संस्कृत-छन्दोविधान का सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विश्लेषण

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की
डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

पर्यवेक्षक:-

डॉ० हरिदत्त शर्मा

उपाचार्य
संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्रस्तोता:-

विनोद कुमार गुप्त

प्रवक्ता
संस्कृत-विभाग
राजकीय महाविद्यालय, चम्बा,
टिहरी-गढ़वाल

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद
२००२

समर्पणम्
त्वदीयं वस्तु शोधं मे
गुरो तुभ्यं समर्पये ।
स्वीकुरु हर्षितो भूत्वा
प्रबन्धं नवकल्पितम् ।।

आत्म-निवेदन

सर्वप्रथम इस शोध–प्रबन्ध की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये वाग्देवी एवं पूज्याभिपूज्या माँ स्वर्गीया श्रीमती प्रभू देवी के चरणों में सादर नमन करता हूँ। प्रस्तुत शोध–विषय का चयन मेरे विद्यार्थी जीवन में छन्द के सिद्धान्तों एवं प्रयोगों के विषय में उपजी जिज्ञासा का प्रतिफल है। परास्नातकीय कक्षा में जब श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० हरिदत्त जी शर्मा (सौभाग्य से मेरे निर्देशक भी हैं) 'वृत्तरत्नाकर' पढ़ाते समय छन्द के सिद्धान्तों एवं प्रयोगों के विषय में प्रकाश डाला करते थे, उस समय मेरे मस्तिष्क में इस सन्दर्भ में अनेकविध प्रश्न उपस्थित हुआ करते थे। अत एव स्नातकोत्तर उत्तरार्द्ध की कक्षा में ही मैंने शोधकार्य करने का निश्चय कर लिया था। इस निश्चय के प्रेरक रहें हैं– विशेषणातीत गुरुवर्य डॉ० हरिदत्त शर्मा, जिन्होंने स्नातकोत्तरोत्तरार्द्ध की अन्तिम परीक्षा के दिन ही मेरे निवेदन पर यह कहते हुये कि "आपने मुझे बाँध लिया" मार्ग–निर्देशन का गुरुतर भार स्वीकार कर मुझे शोध–कार्य करने हेतु अभिप्रेरणा प्रदान की। आपमें कठिन परिश्रम करने तथा कराने की अद्भुत सहज क्षमता के अतिरिक्त मैंने उस प्रज्ञा–ज्योति के दर्शन किये, जिससे मेरे पथ का अन्धकार दूर होता गया। शोधकार्य में प्रवेश लेते समय एतद्विषयक पारस्परिक विचार–विमर्श के पश्चात् छन्द के सिद्धान्तों एवं प्रयोगों के प्रति मेरी जिज्ञासा एवं रुचि को परखकर गुरु जी ने मुझे 'संस्कृत–छन्दोविधान का सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विश्लेषण' इस विषय पर नूतन दृष्टि के साथ शोध–कार्य करने के लिये प्रेरित किया।

प्रकृत शोध–प्रबन्ध में परास्नातकीय कक्षा में अध्ययन के दौरान उठे हुये प्रश्नों का विस्तार एवं यथासम्भव उनका समाधान किया गया है। जिन प्रश्नों का समाधान नहीं हो पाया है, वे प्रश्न रूप में ही छोड़ दिये गये हैं।

शोध प्रबन्ध का कलेवर सात अध्यायों वाला है–

जिसके प्रथम अध्याय में छन्द के उद्भव एवं अद्यावधि विकास–परम्परा का निरूपण किया गया है। विकास–परम्परा में पिङ्गल का छन्दःकाल, पिङ्गल से पूर्वकालिक छन्दःकाल तथा उत्तरकालिक आज तक के छन्दःकाल का समावेश किया गया है। द्वितीय अध्याय छन्दःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के विवरण का है, जिसमें वर्ण, मात्रा, पाद, गण, यति तथा गति के विषय में प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय में लौकिक छन्दों की आधार भूमि होने के कारण वैदिक छन्दों का सङ्क्षिप्त परिचय तत्पश्चात् लौकिक छन्दों के भेदों तथा उसके प्रस्तारगत भेद–प्रभेदों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय छन्दों के नामकरण की सार्थकता को समर्पित है, जिसमें छन्दों के नामों का वैशिष्ट्य तथा उसकी अर्थवत्ता पर विचार किया गया है। पञ्चम अध्याय में छन्द एवं भावों के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि अमुक–अमुक छन्द अमुक–अमुक भाव के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हैं तथा बाद में अपवाद की भी चर्चा की गयी है। षष्ठ अध्याय में संस्कृत–छन्द अन्त्यानुप्रास के प्रयोग होने पर कितना श्रुति–मधुर होता है तथा उसकी सङ्गीतमयी प्रस्तुति सफल होती है, इसका विवेचन है। सप्तम अध्याय में मात्रिक छन्दों का सङ्गीत से सम्बन्ध तथा इसके माध्यम से गीत–रचना के विषय में चर्चा है। स्तोत्रकाव्यों एवं गीतगोविन्द में मात्रिक छन्दों के चमत्कारी प्रयोग की ओर दृष्टि डाली गयी हैं। इसी अध्याय में आधुनिक संस्कृत–कविता में छन्दों के वैविध्य पर प्रकाश डाला गया है, जिसमें आज की संस्कृत–कविता में प्रयुक्त विविध छन्द के विषय में विवेचन किया गया है।

प्रकृत शोध–प्रबन्ध में त्वरित बोधगम्यता के लिये ग्रन्थों के नाम सांकेतिक रूप में न देकर पूर्ण रूप में दिये गये हैं, साथ ही स्पष्टता के लिये प्रयास किया गया है कि सर्ग, अध्याय, काण्ड, वर्ग आदि का शब्दतः उल्लेख हो। कहीं–कहीं प्रसंगवश पुनरुक्ति का अपराध भी अनिवार्यतः हो गया है। अपने विचारों की अभिव्यक्ति में स्पष्टता, सरलता तथा सूत्रात्मकता पर ध्यान दिया गया है। वर्ण्य विषय की प्रकृतिवशात् छन्दोगत पारिभाषिकता व्यापक रूप से समाविष्ट है।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, प्रकृत शोध–प्रबन्ध में प्रथम अध्याय से लेकर अन्तिम अध्याय तक जो भी प्रश्न व उसके समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी मौलिक ही हैं, यदि किसी प्रश्न के विषय में पहले किसी ने विचार किया हो तो वह प्रमाण स्वरूप ही स्वीकार किया जाना चाहिये, जिस विषय में मैं ध्वन्यालोक की पङ्क्ति को उद्धृत करना चाहूँगा–

"लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।"

शोध–प्रबन्ध में मल्लिनाथ की प्रतिज्ञा 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते' का यथासाध्य पूर्ण निर्वाह करने का प्रयास किया गया है।

इस शोध–प्रबन्ध–महामाला के लिये मोतियों को सञ्चित करने की क्रिया में उनके पारस्परिक महत्त्व को समझ कर उनका सूत्रगत स्थान निर्देश करने में प्रातः स्मरणीय परमश्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० हरिदत्त जी शर्मा 'पुंस्कोकिल' ने अपने ज्ञान और व्यक्तित्व–प्रकाश से जिस प्रकार मेरा अन्धतम मार्ग आलोकित किया, उसके लिये मेरे जीवन की श्रद्धा

उनके चरणों मे समर्पित है। मेरे अभिलषित विषय के आदि से लेकर अन्त तक का सम्पूर्ण मार्ग उनकी कृपाप्रभा से भासित है। वैसे शोध में प्रवेश लेते ही अभ्यागताचार्य होकर आपके बैंकाक चले जाने के कारण मुझे उचित मार्गदर्शन के अभाव में शोध–कार्य में अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आपका स्थान विश्व संस्कृत–जगत् में सुप्रतिष्ठित होता हुआ सुनकर मैंने अपने आपको गौरवान्वित अनुभव किया, जिस कारण कठिनाईयॉ कठिनाईयों के रूप में अनुभूत नहीं हुई। बैंकाक से वापस आने पर आपने जिस तन्मयता से मेरा मार्गदर्शन किया वह शब्दातीत है, फिर भी शिष्टाचार वश इसके लिये किञ्चित् शब्दों से आभार प्रकट करूँ, तो मेरी अल्पज्ञता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा, क्योंकि आप जैसे शेमुषी सम्पन्न, अलौकिक प्रतिभा से युक्त व्यक्तित्व के धनी विशेषणातीत हुआ करते हैं।

गुरु जी के अतिरिक्त शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने में जिन गुरुजनों का आशीर्वादात्मक सहयोग रहा है, उनमें सबसे पहला नाम है – श्रद्धेय गुरुवर्य प्रो० सुरेश चन्द्र जी पाण्डे (राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का, जिन्होंने समय–समय पर शोध–प्रबन्ध के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण सुझावों के साथ प्रबन्ध–लेखन के लिये सतत प्रोत्साहित किया। इनके अतिरिक्त प्रो० मृदुला त्रिपाठी (अध्यक्ष, संस्कृत–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) तथा विभागस्थ अन्य गुरुचरणों का प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से शोध–प्रबन्ध को पूरा करने में सहयोग रहा है। एतदर्थ सभी गुरुजनों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ।

शोध–प्रबन्ध–लेखन में इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा राजकीय महाविद्यालय, चम्बा (वर्तमान में अध्यापनरत) के पुस्तकालयो तथा गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से शोध विषयक पुस्तकें प्राप्त करने में उल्लेखनीय सहायता मिली है।

पुनः अपने कुटुम्बीजनों एवं मित्रों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने शोध–प्रबन्ध को पूरा करने में मेरी सहायता की है। प्राचीन ऋषियों की मान्यता है कि पिता के प्रसन्न होने पर सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं– "पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः।" मुझे शैशवकाल से ही पूज्य पिताश्री का वरदहस्त प्राप्त है। उनके निर्व्याज स्नेह व आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ है। परमात्मा उन्हें दीर्घायुष्य प्रदान करें। पिताश्री श्री रामलखन जी गुप्त के अतिरिक्त माँ तुल्य श्रीमती ऊषा किरण जी मिश्रा एवं श्रीमती रामजानकी जी गुप्ता, मधुरवाग्विभूषित मामा श्री महेश प्रसाद जी गुप्त, मेरे अग्रज एवं अनुज भ्राताओं का भी अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग रहा है।

मेरे परममित्र श्री विनय कुमार शुक्ल एवं डॉ० राम सुमेर यादव प्रवक्ताद्वय (संस्कृत) ने अध्यापन कार्य में व्यस्त रहते हुये भी अपने अमूल्य सुझावों के द्वारा शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया। पूर्णता की ओर अग्रसर प्रकृत शोध–प्रबन्ध की निर्विघ्न समाप्ति में कुछ तथाकथित व्यवधान भी उपस्थित हुआ और वह यह कि मेरी नियुक्ति शोध के प्रथम चरण में ही प्राध्यापक के रूप में पर्वतीय प्रान्तभाग राजकीय महाविद्यालय, चम्बा, टिहरी गढ़वाल में हो गई, जिस कारण अध्यापन कार्य में अत्यन्त व्यस्त हो जाने के फलस्वरूप शोध–कार्य प्रभावित हुआ।

पुनश्च शोध–प्रबन्ध की निर्विघ्न समाप्ति में एक और महत्त्वपूर्ण नाम है, जिनके बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं था, वह हैं– मेरी चिरसङ्गिनी श्रीमती कञ्चन गुप्ता, शोधच्छात्रा–दर्शनशास्त्र–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, जिन्होंने प्रीतिवश शोध–प्रबन्ध लेखन के मार्ग में आने वाली समस्त कठिनाइयों में न केवल मुझे सम्बल प्रदान किया, बल्कि गृहस्थ जीवन के समस्त दायित्वों से मुक्त रखते हुये शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने में अपना अपार स्नेह व सहयोग प्रदान किया। शोध–काल में ही नवजात मेरे पुत्र चिरंजीव चन्द्रमौलि का स्मरण भी यहाँ आवश्यक है, जिसकी शैशवकालिक सुलभ चञ्चलताओं ने मुझमें नवस्फूर्ति का सञ्चार किया। श्री सूर्य प्रकाश जी गुप्त, जिन्होंने शोध–प्रबन्ध को मुद्रित करने में अत्यन्त तत्परता दिखायी, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। अस्तु।

समस्त प्रयत्नों के बाद भी अपनी मन्दमति के कारण मैंने यहाँ सिद्धान्त एवं प्रयोग के विरूद्ध यदि कुछ कह दिया हो, तो उसे अन्यथा न लेकर उदारचेता विद्वान् उसका शोधन करने की कृपा करें, एतदर्थ कुछ परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र के शब्दों में कहने का साहस कर रहा हूँ–

प्रयोग–सिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्।
मात्सर्यमुत्सार्य उदारचेत्ताः प्रसादमाधाय समादधन्तु।।

विनयावनत

गुरुपूर्णिमा

२४ जुलाई, २००२

विनोद कुमार गुप्त

विषय-सूची

पृ०सं०

प्रथम अध्याय :–

प्रथम अध्याय

छन्द :

स्वरूप एवं इतिहास

प्रथम अध्याय

छन्द – स्वरूप एवं इतिहास

विषयावतरण :–

'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति नच्छन्दश्शब्दवर्जितम्' नाट्यशास्त्र की यह उक्ति स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करती है कि न कोई शब्द छन्दों से रहित है और न कोई छन्द शब्दों से रहित है। आचार्य भरत के कथन से अपनी सहमति प्रकट करते हुए जयकीर्ति का कथन है कि सम्पूर्ण वाङ्मय छन्दोमय है, छन्द के बिना कुछ नहीं – 'छन्दोभाग्वाङ्मयं सर्वं न किञ्चिच्छन्दसा बिना।'[1] निरूक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि छन्द के बिना वाणी उच्चरित ही नहीं होती– "नाच्छन्दसि वागुच्चरति।"[2] आचार्य भरत के इस कथन से छन्द की व्यापकता को समझा जा सकता है। छन्द पद्यकाव्य का एक आवश्यक अङ्ग है या यह कहें कि छन्द पद्य का समवायिकारण है। पञ्चविध कलाओं में परिगणित काव्यकला अपने उन्नत शिखर पर तभी आरूढ होती है, जब कविता रसभिव्यञ्जक होने के साथ–साथ छन्दोबद्ध हुआ करती है। जन सामान्य के लिये छन्दोमयी कविता ही पुरुषार्थ– चतुष्टय को प्राप्त कराती है। आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में 'सद्यः परनिर्वृति'[3] की भी गणना की है। 'सद्यः मुक्ति' परमानन्द (ब्रह्मानन्द) का ही दूसरा नाम है। यह आनन्द छन्दोबद्ध कविता में छन्दोविहीन कविता की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है। वस्तुतः छन्दोमयी वाणी जनसाधारण के लिये अधिक प्रभावी हुआ करती है अर्थात् छान्दसिक

---

[1] छन्दोऽनुशासन अधिकार–१, पद्य–२

[2] निरुक्त ६/२ की वृत्ति

[3] काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।
–काव्यप्रकाश उल्लास प्रथम, कारिका–२

रचनायें मानव मात्र को सहज ही चतुर्वर्गफल की प्राप्ति कराती हैं। छन्दोमुक्त कविता से भी आनन्द की प्राप्ति होती है, लेकिन इस स्थिति में कविता विदग्धजनों का विषय बन जाती है तथा जनसाधारण से दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त कविता के प्राण तत्त्व लयात्मकता, सुश्राव्यता तथा सम्प्रेषणीयता छन्द के द्वारा ही सम्भव हैं। छन्दों की लयात्मकता आदि उनकी निजी विशेषता है, जो छन्द से अनभिज्ञ व्यक्तियों के कानों पर ऐसा प्रभाव डालती है कि केवल उसका समुचित ढंग से कविता पाठ ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त होता है। सुश्राव्यता छन्दों का आवश्यक गुण है। रचना की सफलता के लिये छन्दों के नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। यदि छन्द के सिद्धान्तों या नियमों को ध्यान में रखकर छन्द का पाठ न किया गया, तो छन्दोभङ्ग दोष प्रसक्त होता है तथा साथ ही सुश्राव्य के स्थान पर दुःश्राव्य हो जाता है। छांदसिक नियमों की परवाह किये बिना छन्द का पाठ करने पर ऐसा लगता है जैसे बैल चिल्ला रहा हो या कोई गाल पर चाँटा मार रहा हो। अतएव छन्द का पाठ करने के लिये उसके सिद्धान्तों का ज्ञान होना आवश्यक है। इसीलिये तो छन्द की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए राधादामोदर का मन्तव्य है कि जो मनुष्य सभा में छन्दों के लक्षणों से रहित काव्य पाठ करते हैं, वे अपने हाथ से ही अपना सिर काटते हुए भी नहीं जान पाते हैं कि वे अपना सिर काट रहें हैं–

> "छन्दो लक्षणहीनं सभा सुकाव्यं पठन्ति ये मनुजाः।
> कुर्वन्तोऽपि स्वेन स्वशिरच्छेदं न ते विदुः।।"[१]

छन्द के ज्ञान के बिना काव्य–पाठ करने वाले विद्वानों की सभा में उपहास का पात्र होते हैं, अतः छन्दःबोध अत्यन्त आवश्यक है।

---

[१] छन्द.कौस्तुभ, प्रभा–१, पद्य–४

छन्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ एवं स्वरूप :–

छन्द संस्कृत–वाङ्मय का मेरुदण्ड है। छन्द की आधार भूमि पर प्रतिष्ठित होकर संस्कृत–काव्य व्यवस्थित रूप से गतिमान् हुआ है। छन्द को वेद का पादद्वय माना गया है।

वैदिक वाङ्मय में 'छन्द' के विविध अर्थ देखने को मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में 'सूर्यरश्मि' अर्थ में छन्द का प्रयोग है।[१] पुराणों में भी सर्वत्र सूर्य के प्रसिद्ध सात अश्वरश्मियाँ ही 'छन्द' से सङ्केतित हैं।[२] ब्राह्मण ग्रन्थों में छन्दों को 'प्राण' की सञ्ज्ञा दी गयी है।[३] इसके अतिरिक्त उन्हें रस तथा गायत्र्यादि छन्दः सप्तक को अग्नि के प्रिय सात धाम भी बताया है।[४] इस युग मे हम देखते हैं कि छन्द का महत्त्व इतना व्यापक हो गया था कि उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समावेश होने लगा, फिर उसे सूर्य की किरणें, अग्नि के धाम, प्राण, रस आदि के रूप में माना जाने लगा। परन्तु लौकिक वाङ्मय में 'छन्द' के पद्य, वेद, इच्छा, संहिता आदि अर्थ प्राप्त होते हैं।[५] कोश ग्रन्थों में भी छन्द के विविध अर्थ समुपलब्ध होते हैं। अमरकोश में छन्द के पद्य तथा अभिलाषा अर्थ बताये गये हैं।[६] मेदिनी कोशकार ने छन्द के चार अर्थ बताये हैं– पद्य, वेद, स्वैराचार तथा अभिलाषा।[७] कोशग्रन्थों में छन्द का अर्थ प्रायः पद्य ही उपलब्ध होता है, जो कि लोक में भी मान्य है। अतः छन्द का अर्थ नियम विशेष के तहत की गयी शब्द–योजना ही अभिप्रेत है। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में इसके विविध

---

[१] एष वै रश्मिरश्छन्दः, शतपथ ब्राह्मण ८/५/३/३

[२] छन्दोभिरश्वरूपैः वायुपुराण ५२/४५, छन्दो रूपैश्च तैरश्वैः, हयाश्च सप्त छन्दांसि, विष्णुपुराण,२/८/७

[३] प्राणा वै छन्दांसि, कौषीतकि ब्राह्मण ६/६

[४] शतपथ ब्राह्मण ६/२/३/४४, माध्यन्दिन संहिता १७/७६ की व्याख्या

[५] इच्छा संहितयोरर्षि छन्दोवेदे च छन्दासि काशिका १/२/३६

[६] छन्दः पद्येऽभिलाषे च, काण्ड–३, वर्ग–३, पद्य–२३२

[७] छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः, सत्रिक–१७१, पद्य–२२

नाम मिलते हैं– छन्दोविजिति, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविजिनी, छन्दोविचिति तथा छन्दोव्याख्यान आदि।[1]

'छन्द' संस्कृत के 'छन्दस्' का अर्द्धतत्सम रूप है। यदि प्रकृति–प्रत्यय के आधार पर 'छन्द' के अर्थ को जानने की चेष्टा करें, तो ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि ने 'छन्दस्' शब्द की व्युत्पत्ति 'चदि आह्लादने' धातु से 'असुन्' प्रत्यय करके मानी है।[2] 'छदि संवरणे' धातु से भी 'असुन्' प्रत्यय करके इसकी निष्पत्ति स्वीकार की है, जिसका व्यवहार में सामान्यतः आच्छादन करना, प्रसन्न करना, बाँधना, आह्लादित करना, ढक लेना आदि अर्थ होता है। निरुक्तकार आचार्य यास्क ने 'छनदांसि छादनात्' कहकर आच्छादन करने के कारण इसे 'छन्द' कहा है।[3] वैदिक संहिता में 'छन्द' की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि 'पापकर्म से जो इसको (मंत्र को) निवारित करें, वे छन्द कहलाते हैं– "छादयन्ति ह वा एनं पापात् कर्मणः।" ब्रजमोहन झा ने सुवृत्त तिलक की भूमिका में विस्तार के साथ 'छन्द' का निर्वचन करते हुये लिखा है कि "छन्द पद का व्यवहार सामान्यतः कामना, अभिलाषा, स्वेच्छाचार आदि की सञ्ज्ञा के रूप में होता है। इनमें भी स्वेच्छाचार अर्थ अधिक प्रचलित है। 'छन्दसा कृतं', 'छान्दस्यं स्वच्छन्दः' आदि प्रयोग उदाहरण–स्वरूप उद्धृत किये जा सकते हैं। आजकल यह पद्य तथा वेद के अर्थो में रूढ़ हो गया है। जहॉ तक वेद का इस नाम से सम्बन्ध है, यह उसका कोई सुनाम नहीं है। जब भी और जिसने भी उसका यह नामकरण किया होगा दुर्नाम समझकर ही, क्योंकि उसका यह नाम तभी व्यवहृत होता है, जबकि उसका भाषागत स्वेच्छाचार समझना वक्ता का अभिप्रेत होता है। जैसे–

[1] पाणिनीय गणपाठः– ४/३/७३, जैनेन्द्रगणपाठः ३/३/४७, जैनेन्द्रशाकटायनगणपाठः– ३/१/१३६, चन्द्रगणपाठ– ३/१/४५, गणरत्नमहो दधि–५/३४४, सरस्वती कण्ठाभरण–४/३

[2] पाणिनि धातुपाठ, भ्वादिगण, ७०

[3] निरुक्त, दैवतकाण्ड ७/३

'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति', 'छन्दासिदृष्टानुविधिः', 'छन्दसि बहुलम्' इत्यादि।[1] 'आचार्य पाणिनि 'बहुलं छन्दसि'[2] आदि सूत्रों में अनेकशः इस शब्द का प्रयोग वेद अर्थ में करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'छन्द' विविध अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। 'छन्द' के ये सभी अर्थ उपपन्न हैं। पद्य का अर्थ है– पदं चरणं अर्हतीति अर्थात् चरणों में उपनिबद्ध होने के कारण 'पद्य' अर्थ युक्तिसङ्गत है। भावों का आच्छादन होने के कारण 'आच्छादन' अर्थ, प्रभूत भावों का एक साथ सङ्कलन होने के कारण 'संहिता' अर्थ उपपन्न है। छन्दोबद्ध रचना से रचनाकार एवं श्रोता दोनों आह्लादित होते हैं, अतएव इसका 'आह्लादन' अर्थ भी उपयुक्त है। वेदमन्त्र छन्दोबद्ध हैं और बिना छन्दोमय पाठ के मन्त्र प्रभावपूर्ण नहीं होते, इसलिये 'छत्रिन्यायेन' 'वेद' अर्थ भी उचित प्रतीत होता है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं और कामनाओं के लिये छन्दोबद्ध मंत्र के माध्यम से ही देवताओं की स्तुति किया करते हैं, जिससे 'इच्छा' एवं 'कामना' अर्थ भी सुसङ्गत बैठता है। अतः स्पष्ट है कि विविध विशेषताओं के होने के कारण ही 'छन्द' विविध अर्थो में व्यवहृत होता रहा है, किन्तु अधिकतर छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने पद्यबद्ध रचना को ही छन्द माना है। पद्य की रचना में छन्द पूर्ण उपयोगी रहता है, क्योंकि बिना छन्द के किसी पद्य का निर्माण नहीं होता। पद्य छन्दोबद्ध होता है। संस्कृत–कवि तो छन्दोहीन पद्य की कल्पना भी नहीं करते, छन्दोहीन पदावली को वे गद्य कहते हैं।[3] छन्दोहीन गद्य एक उत्कृष्ट काव्य हो सकता है, जब कि छन्दोबद्ध होकर भी कोई भी वाङ्मय का रूप काव्य की परिधि में नहीं आ सकता। अतः छन्दोबद्धता काव्य की अपरिहार्य कसौटी नहीं है।

---

[1] सुवृततिलक की भूमिका, पृ० ७ (सस्कृत ग्रन्थ माला २७६)

[2] अष्टाध्यायी, ७/१/८

[3] गद्य निगद्यते छन्दोहीनं पदकदम्बकम्– सङ्गीत रत्नाकर, पृष्ठ ३०६

छन्द का स्वरूप –

छन्द और छन्दःशास्त्र का सम्बन्ध भाषा और व्याकरण के समान है। जिस प्रकार व्याकरण भाषा में प्रचलित शब्दों की साधुता–असाधुता के विषय में अध्ययन करता है। उसका काम भाषा के बाजार में नये–नये शब्द गढ़कर बेचना नहीं। उसी तरह छन्दःशास्त्र भी प्रचलित छन्दों का ही विश्लेषण करता है, नया छन्द गढना उसका काम नहीं। इसी भाव को कुँवर नारायण ने इस प्रकार कहा है– "छन्द, जिन्हें कविता का व्याकरण कहना शायद गलत न होगा, कविता के विकास में कुछ उसी तरह टूटते बनते चले हैं, जैसे भाषा के विकास में व्याकरण।"[१]

प्रश्न उठता है कि 'छन्द' का स्वरूप क्या है? या अन्य शब्दों में कहें कि शब्दों के किस प्रकार के संयोजन को 'छन्द' नाम दिया जाता है? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप छन्दःशास्त्रीय आचार्यो एवं मनीषियों ने अनेक बातें कही हैं या 'छन्द' के स्वरूप का निर्धारण किया है। सर्वप्रथम हिन्दी छन्द के विद्वानों के मत की चर्चा करना चाहेंगे। रघुनन्दन शास्त्री ध्वनियों के सामञ्जस्य को छन्द कहते हैं। उनके अनुसार "किन्हीं छोटी–बड़ी ध्वनियों के सामञ्जस्य को छन्द कहते हैं।[२] यहाँ छोटी–बडी ध्वनियों से तात्पर्य लघु एवं गुरु का विशिष्ट संयोजन प्रतीत होता है। पुत्तूलाल शुक्ल का कहना है कि "छन्द नियमित मुखध्वनि रचना है।"[३] यहाँ पर शुक्ल जी ने 'नियमित' शब्द से आशय 'नियन्त्रित' या 'नियमों से बँधी हुई' लिया होगा, ऐसा जान पड़ता है।

---

[१] कुँवर नारायण तीसरा सप्तक, पृ० २३५

[२] हिन्दी छन्दःप्रकाश – पृ० १६–१७

[३] हिन्दी काव्य में छन्द योजना पृ० २३

जगन्नाथ प्रसाद भानु ने छन्दः तत्त्वों से युक्त पद्य रचना को 'छन्द' माना है–

मत्त वरण गति यति नियम अंतहि समता बन्द।[1]

जो पद रचना में मिले भानु भनत सोइ छन्द।।

श्री अवध उपाध्याय ने छन्द के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "जिस रचना में वर्ण, मात्रा, लय, गति, यति और चरणान्त सम्बन्धी नियमों का वर्णन हो, उसे छन्द कहते हैं।[2] डा० गौरी शंकर मिश्र ने छन्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये लिखा है– "छन्द वह लयात्मक, नियमित तथा अर्थपूर्ण वाणी है, जिसमें आबद्ध होकर कोई वाक्य या वाक्यांश पद्य का रूप धारण करता है।"[3]

छन्दःशास्त्रीय आचार्यो ने इसके स्वरूप निर्धारण में अक्षर संख्या को ही मूल माना। ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल का यह मंत्र उद्घोष करता है–

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण सामत्रैष्टुभेन वाकम्।[4]

वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्तवाणीः।।

छन्द का लक्षण महर्षियों ने अत्यन्त अर्थानुसारी ही किया है। कात्यायन मुनि ने सर्वानुक्रमणी में छन्द का स्वरूप इस प्रकार बताया है–

"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः"[5]

अर्थर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में भी कहा गया है–

"छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते।"

आचार्य पिंगल के 'छन्दःसूत्र' पर हलायुध की वृत्ति भी अक्षर संख्या के अवच्छेदक को ही छन्द के रूप में स्वीकार किया है–

---

[1] छन्दः प्रभाकर, पृ० –१

[2] नवीन पिङ्गल पृ०–५५

[3] सूर साहित्य का छन्दः शास्त्रीय अध्ययन पृ० १३–१४

[4] ऋग्वेद संहिता १/१६४/२४

[5] कात्यायन, ऋक्सर्वानुक्रमणी २/७

'छन्दःशब्देनाक्षरसंख्यावच्छेदोऽत्राभिधीयते'[1]

छन्द के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य भरत का कथन है कि जिसमें पदों एवं अक्षरों का निश्चित क्रम के अनुसार गठन हो, यति समन्वित हो तथा जिसमें अक्षर संख्या का प्रमाण रहे, ईदृश शब्दों के गठन द्वारा जो पद रचना की जाती है, उसमे चार पाद होते हैं, उसमें अनेक अर्थों का अभिव्यञ्जन रहता है तथा वर्णो के द्वारा यह निर्मित की जाती है, ऐसी रचना छन्द या वृत्त नाम से अभिहित की जाती है।"[2] आचार्य भरत ने नियताक्षरबन्ध (निश्चितानि अक्षराणि यस्मिन् स बन्धः नियताक्षरबन्धः) को 'छन्द' माना है।

उपर्युक्त छन्द के स्वरूप–निर्धारण विषयक विविध मत–मतान्तरों का विश्लेषण करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य भरत आदि सभी छन्दःस्वरूप के निर्धारण में लौकिक छन्द के जनक दयार्द्रचेता महर्षि वाल्मीकि के विचार को ही आधार मानते हुये दिखायी देते हैं।

क्रौञ्चवध के पश्चात् करुणार्द्रचिन्त महर्षि वाल्मीकि के मुख से सहसा यह वाणी फूट पड़ी–

मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

इसका एकाएक प्रस्फुटन देखकर मुनि वाल्मीकि के मन में विचार आया कि इस वाणी में चार चरण हैं एवं चारों चरणों में अक्षर संख्या समान है तथा

---

[1] 'छन्दः' (२/६) पर हलायुधवृत्ति

[2] निबद्धाक्षरसंयुक्तं यतिच्छेदसमन्वितम्।
निबद्धन्तु पदं ज्ञेयं प्रमाणनियतात्मकम्।।
एवं नानार्थसंयुक्तैः पादैर्वर्णविभूषितैः।
चतुर्भिस्तु भवेद्युक्तं छन्दोवृत्ताभिधानवत्।।
– नाट्यशास्त्र १५/३८–३६

सङ्गीत के नाद एवं लय से युक्त निश्चित रूप से श्लोक हैं और श्लोक के अतिरिक्त कुछ नहीं–

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।।[1]

इस उद्धरण से निश्चित रूप से यह व्यक्त होता है कि छन्द के द्वारा काव्य में अक्षरों का नियमन और उससे पाद का स्वरूप–निर्माण होता है और वह चरणबद्ध अक्षर–क्रम एक विशेष प्रकार के राग एवं कविता को छान्दस सङ्गीत में बाँध देती है।

उपर्युक्त छन्द के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् यह बात सामने आती है कि वर्णों के विशिष्ट संयोजन (मर्यादा) का नाम छन्द है, जैसाकि डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि "जहाँ छन्द होता है, वहाँ मर्यादा आ जाती है।[2] छन्द के मुख्य लक्षण हैं– वर्णों का विशिष्ट संयोजन, भावों का संवरण, आह्लादन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निश्चित अक्षरों का एक विशिष्ट संयोजन, पादबद्धता एव लयात्मकता आदि छन्द के स्वरूपाधायक तत्त्व हैं। अतः हम सरल एवं स्पष्ट रूप से छन्द का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं कि छन्द एक ऐसी रचना है, जो (जिसमें भावों का भी समावेश हो) निश्चित अक्षरों के लघु–गुरु के विशिष्ट संयोजन से पादबद्ध होकर लयात्मकता को प्राप्त होती है।

छन्द 'वेदाङ्ग के रूप में :–

वेद के षडङ्गों में से एक अङ्ग के रूप में 'छन्द' प्रतिष्ठित है। इसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुये आचार्य पाणिनि ने पाणिनीय शिक्षा में लिखा है–

---

[1] वाल्मीकि रामायण – बालकाण्ड, सर्ग –२, श्लोक–१८

[2] वेदविद्या, पृष्ठ–१०२

'छन्द वेद का पैर है।'[1] अर्थात् वेदाङ्ग में परिगणित 'छन्द' वेद पुरुष के पादस्थानीय है। जिस प्रकार पुरुष बिना पैर के चल नहीं सकता, उसी प्रकार छन्द के ज्ञान के बिना वेदाध्ययन और वेद दोनों पङ्गु हैं। कात्यायन का यह स्पष्ट कथन है कि 'जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन–अध्यापन, यजन–याजन करता है, उसका प्रत्येक कार्य निष्फल होता है।[2] यही बात छान्दोग्य ब्राह्मण (३/७/५) मे कही गयी है। 'छन्दांसि छादनात्' की टीका में दुर्गाचार्य ने लिखा है कि 'मृत्यु से भयभीत हुए देवों ने अपने को छन्द से आच्छादित कर लिया, इसी से मन्त्र 'छन्द' कहलाने लगे।''[3]

वस्तुतः छन्दों को वेदों का अङ्ग इसलिये स्वीकार किया गया क्योंकि समस्त वैदिक वाङ्मय विशेष रूप से संहिता भाग छन्दों के नियम से विधिवत् आबद्ध हैं और समग्र मंत्रों का स्वरूप छन्दों द्वारा ही नियन्त्रित है, जिससे वैदिक सूक्तों का गायन छन्द के बिना सम्भव नहीं होता। अतः वैदिक भाषा के अध्ययन हेतु छन्दों का ज्ञान होना अपरिहार्य है। छन्द के बिना वैदिक वाणी की गति सम्भव नहीं है। इन्हीं सब कारणों से छन्द की वेदाङ्ग के रूप में प्रतिष्ठा हुई।

छन्द का उद्भव : –

छन्दोविधान के सैद्धान्तिक विश्लेषण के सन्दर्भ में छन्द के उद्भव एवं क्रमिक विकास की परम्परा का विवेचन अपेक्षित जान पड़ता है। अतएव सर्वप्रथम छन्द के उद्भव के विषय में यह प्रश्न उठता है कि छन्द का उद्भव कब हुआ ? इस विषय में इदमित्थं रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । यदि हम यह कहें कि वेद अक्षय्य

---

[1] छन्दः पादौ तु वेदस्य पा०शि० ४१–४२

[2] यो ह वा अविदितार्षे यच्छन्दो दैवत–ब्राह्मणेन मन्त्रेण या जयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति। सर्वानुक्रमणी १/१

[3] यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।

ज्ञान के स्रोत हैं, वे सभी प्रश्नों का समाधान करने में समर्थ हैं, इसलिये उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर उनमें निहित है, तो यह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि ऋग्वेदादि संहिता में जो गायत्री प्रभृति छन्द देखे जाते हैं, वे उद्‌भव की स्थिति वाले छन्द नहीं है। एक नियम के तहत उनकी रचना हुई जान पड़ती है। छन्द का प्रथम रूप सहज एवं सुबोध है, जिसका ज्ञान वेद के माध्यम से नहीं हो सकता और न ही इसका ज्ञान ठीक–ठीक विश्व में किसी को होगा। छन्द का उद्‌भव ऋग्वेदादि संहिता के बहुत पहले हो चुका रहा होगा, जिसका लक्षणविहीन, सुश्राव्य तथा सुगम शब्दों का संयोजन एवं गेयात्मक स्वरूप रहा होगा। चूँकि छन्द एक सैद्धान्तिक विवेचन है, अतः स्पष्ट है कि यह समाज मे प्रयुक्त एक विशेष प्रकार की शैली रही होगी। जहाँ तक हमारा विचार है कि लोग अपनी आवश्यकताओं और विचारों को सामान्य बोलचाल की भाषा(वैखरी) में प्रकट करते रहे होगें, कथञ्चित् उनके अन्दर कुछ ऐसी अनुभूति हुई होगी, जिससे उनकी अपनी आत्मिक अनुभूति सहसा गेयात्मक रूप में निकली हुई होगी और तबसे भाषा का गेयात्मक रूप सामने आया होगा, जो बाद में छन्दःशास्त्र का छन्द बन गया और वेदों में गायत्री प्रभृति छन्द का नामकरण हुआ तथा छन्द की अविरल धारा प्रवाहित होने लगी। वेद–रचना–काल तक आते–आते मानव समाज काफी विकसित हो गया होगा और अन्वेषी मनीषा ने सामान्य बोलचाल की भाषा तथा भाषा के गेयात्मक रूप में वाणी–क्रम का अध्ययन किया होगा, जिससे इनमें परस्पर भेद का ज्ञान हुआ होगा और उसके सम्यक् संस्कार से पद्योपयुक्त छन्द प्रकाश में आये होंगे, जिनमें वेदों की रचना हुई होगी और बाद में गद्य का भी संस्कार हुआ होगा और यजुर्वेद की रचना हुई होगी। इस प्रकार ये दोनों शब्द शिल्प के प्रमुख अङ्ग हो गये होंगे। इसीलिये छन्द को 'शिल्प' भी कहा जाता है। धीरे–धीरे इन शैलियों में निरन्तर संस्कार होता रहा, परिणाम स्वरूप 'सामवेद' में वह

पूर्णतः गेयात्मक रूप के साथ प्रस्तुत होती है। निरन्तर संस्कार होते रहने के कारण वैदिक युग समाप्त होते–होते छन्दों के रूप में दो बार परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जिससे वेदों में छन्द के तीन रूप सामने आते हैं– प्रथम रूप वह है जो वेद में गाथा के नाम से जाना जाता है। ये रचनायें प्राग्वैदिक काल की मानी जा सकती है। दूसरा रूप ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का है जो अक्षर एवं मात्रा के नियन्त्रण से पूर्णतः प्रभावित है। सामवेद में छन्द का तीसरा रूप देखने को मिलता है, जो पूर्णतः यति, गति, ताल, तुक आदि के साथ मात्राओं के बन्धन को स्वीकार करता है।

लौकिक छन्दों की उत्पत्ति – हाँ, लौकिक छन्दों का उपजीव्य ऋग्वेदादि संहिता ही है, क्योंकि इनमें लौकिक छन्दों के बीज गोचर होते हैं। लौकिक छन्दों में प्रमाणिका, वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा आदि छन्दों का पुट लिये ऋग्वेदादि संहिता में अनेकशः मन्त्र देखे जाते हैं। यथा–

वंशस्थ – रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवः (ऋ० १/७/२४)

प्रमाणिका – हृदि स्पृगस्तु शन्तमः (ऋ० १/३/३१)

इन्द्रवज्रा– पूषण्वते ते चकृमा करम्भं (ऋ० ३/३/१८)

उपेन्द्रवज्रा – स्तुहि श्रुतं गर्त सदं युवानं (ऋ० २/७/१८)

उपजाति –'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृक्षे कुह चिद्दिवेयुः (ऋ०१/२/१४)

शालिनी – इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूत (ऋ० ५/७/६)

वातोर्मी – आ देवानामभवः केतुरग्ने (ऋ० २/८/१६)

इन्द्रावंशा – यूना ह सन्ता प्रथमं वि जज्ञतुः (७/२/१६)

नराच– अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिंचर (१/१/१६)

इहामृगी – अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम् (ऋ०– १/२४/२)

सेनिका – अबाधमं वि मध्यमं श्रयाय (ऋ०– १/२४/१५)

सौभगकला – भेषजमपामुत प्रशस्तये (ऋ०– १/२३/१६)

ललिता – यस्तातृषाण उभयाय जन्मने (ऋ०– १/३१/७)

यजुर्वेद संहिता में उपजाति का कितना सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है–

एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।[1]

स एष जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।।

उपर्युक्त मन्त्र चाहे वे पूरी ऋचा हों या अर्धर्च लौकिक छन्दों के बीज रूप में स्पष्ट रूप से दिखायी पडते हैं। अतः हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि वेद ही लौकिक छन्दों के उपजीव्य हैं । अन्य शब्दों में वेद ही लौकिक छन्दों की उत्पत्ति के मूल हैं। हॉ, दोनों की पद्धति में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है। ऋग्वैदिक छन्द स्वर सङ्गीत पर आश्रित है (इसलिए वैदिक छन्द को स्वर–वृत्त भी कहते हैं), जबकि लौकिक छन्द वर्ण–सङ्गीत पर। इनके अन्तर को स्पष्ट करते हुये आचार्य बलदेव उपाध्याय[2] ने लिखा है "वैदिक छन्द स्वर सङ्गीत पर आश्रित हैं अर्थात् स्वरों के उच्चावच प्रकार पर आधारित हैं। उनमें अक्षर गणना ही प्रधान है, उन अक्षरों के रूप– ह्रस्व या दीर्घ– से उनका कोई महत्त्व नहीं है। लौकिक छन्द वर्ण–सङ्गीत पर आश्रित हैं अर्थात् वर्णों के उच्चारण प्रकार का समधिक महत्व है। इन वर्णों के गुरु लाघव के कारण ही छन्दों में सुश्राव्यता उत्पन्न होती है और इसी सुश्राव्यता को मुख्य तत्त्व मानकर लौकिक छन्दों की रचना हुई है।" लौकिक छन्द की रचना का प्रारम्भ क्रौञ्चवध के पश्चात् करूणार्द्रचित्त महर्षि वाल्मीकि के मुख से सहसा निकली हुई वाणी –

---

[1] यजुर्वेद (३२अ, ३क, ४मन्त्र)

[2] संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृष्ठ–२६३

मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।[1]

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

से हुआ। इस वाणी का सहस्त्र प्रस्फुटन देखकर मुनि वाल्मीकि के मन में यह विचार आया कि अभी–अभी मेरे मुख से जो उद्‌गार निकले हैं, वे चार चरणों में बद्ध हैं एवं चारों चरणों में अक्षरों की संख्या एक समान है और यह पदावली सङ्गीत के नाद एवं लय से युक्त है । अतः मेरे मुख से निकला हुआ यह उद्‌गार निश्चित रूप से श्लोक है और श्लोक के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता–

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।

शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।।[2]

कालिदास की अनुभूति भी इसे श्लोक कहती है–

'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'[3]

महर्षि वाल्मीकि के मुख से निकली हुई वाणी ही लौकिक छन्द का प्रथम छन्द अनुष्टुप् है, जो वैदिक छन्द अनुष्टुप् से भिन्न है। यहीं से लौकिक छन्द का उदय माना जाता है। वैदिक अनुष्टुप् छन्द में प्रत्येक चरण में आठ–आठ अक्षर होते हैं, किन्तु गुरु–लघु का कोई संयोजन नहीं है, जबकि इस नवोदित छन्द के प्रत्येक पाद में आठ–आठ अक्षर के अतिरिक्त गुरु–लघु का विशेष संयोजन है और इसी संयोजन के कारण सुनने में एक विचित्र माधुरी उत्पन्न होती है और यही महाकवि भवभूति के मुख से कहलवा देती है–

"चित्रम् ! आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः।"[4] अर्थात् वेद के अतिरिक्त लोक में भी छन्दों का यह नया प्रादुर्भाव है। रामायण से पूर्व लौकिक छन्द में कविता

---

[1] वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड, सर्ग–२, पद्य–१५

[2] वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग–२ पद्य–१८

[3] रघुवंश सर्ग–१४, पद्य–७०

[4] उत्तररामचरित अङ्क–२

नहीं थी। सर्वप्रथम क्रौञ्चद्धन्द्ववियोगविक्लान्त वाल्मीकि की अन्तस् भावधारा लौकिक छन्द में प्रस्फुटित हुई। इसीलिये वनदेवता के माध्यम से भवभूति ने छन्दों के नवीन अवतार की बात कही है।

छन्दः शास्त्र की परम्परा एवं विकास–

छन्दः शास्त्र की परम्परा एवं क्रमिक विकास के सन्दर्भ में यदि हम समुलब्ध छन्दः शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर 'यशः पुण्यैरवाप्यते' के अनुसार आचार्य पिङ्गल को प्रवर्तक आचार्य (जैसा कि सर्वमान्य है) कहें, तो इसके विकास–क्रम को त्रिधा विभक्त किया जा सकता है–

१. आचार्य पिङ्गल का पूर्वकालिक छन्दः काल

२. आचार्य पिङ्गल का छन्दः काल

३. आचार्य पिङ्गल का उत्तरकालिक छन्दः काल

जहाँ तक छन्दः शास्त्र की परम्परा का सम्बन्ध है पिङ्गल सूत्र के प्रामाणिक भाष्यकार आचार्य यादवप्रकाश ने भाष्य की समाप्ति पर छन्दः शास्त्रीय परम्परा का सङ्केत करते हुए कहा है कि छन्दः शास्त्र के प्रथम आचार्य देवाधिदेव महादेव हैं, उनसे देवों के गुरु बृहस्पति को, बृहस्पति से दुश्च्यवन(इन्द्र) को, दुश्च्यवन से शुक्राचार्य को, शुक्राचार्य से माण्डव्य को, माण्डव्य से सैतव को, सैतव से यास्क को और यास्क से पिङ्गल मुनि को, पिङ्गल मुनि से क्रमशः इस सारे जगत् को यह शास्त्र मिला।[१]

---

[१] छन्दोज्ञानमिदं भवाद् भगवतो लेभे गुरूणां गुरु–
स्तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुर्माण्डव्यनामा ततः।
माण्डव्यादपि सैतवस्तत ऋषिर्यास्कस्ततः पिंगल–
स्तस्येदं यशसा गुरुर्भुवि धृतं प्राप्यास्मदाद्यैः क्रमात्।।
– युधिष्ठिर मीमांसक– वैदिकच्छन्दोमीमांसा,पृष्ठ ५७–५६ से उद्धृत।

किन्तु अन्यत्र एक दूसरी परम्परा का द्योतक श्लोक प्राप्त होता है। उसके अनुसार परम्परा का यह रूप सामने आता है–

शङ्कर → गुह → सनत्कुमार → बृहस्पति → इन्द्र → शेषनाग → पिंङ्गल।

इन दोनों परम्पराओं से यह सङ्केत मिलता है कि छन्दः शास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से अबाध गति से प्रवाहित होती आ रही है। अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही छन्दः शास्त्र के विषय में चिन्तन मनन होता आ रहा है।

आचार्य पिंङ्गल का पूर्ववर्ती छन्दः काल–

आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ 'छन्दःसूत्र' या 'छन्दःशास्त्र' दोनों ही नाम प्रचलित हैं– में कतिपय प्राचीन आचार्यो यथा क्रौष्टुकि, यास्क, ताण्डि, सैतव, काश्यप, रातमाण्डव्य प्रभृति छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है।[1] प्रश्न उठता है कि तब आचार्य पिङ्गल प्रवर्तक आचार्य कैसे हो सकते हैं ? उसका उत्तर यही है कि समुलब्ध छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ में आचार्य पिङ्गल का ग्रन्थ 'छन्दःसूत्र' ही प्राचीनतम है (यह अविवादित है) अतएव हम उन्हें प्रवर्तक आचार्य कह सकते हैं। आचार्य पिङ्गलोक्त आचार्यो का विवरण इस प्रकार है–

१. **क्रौष्टुकि**– बौधयनीय भारद्वाजगोत्रकाण्ड में 'भृष्टयो भृष्टुभिन्दयः क्रोष्टुकयः' कहकर आचार्य क्रौष्टुकि को याद किया गया है। यास्क ने भी इनके मत का कथन किया है– ''द्रविणोदा इन्द्र इति क्रौष्टुकिः ''[2]

२. **यास्क** – यास्क ने 'छन्दांसि छादनात्' कहकर छन्द के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भृगुसंहिता में आपस्तम्ब ने यास्क के विषय में कहा है–

---

[1] स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः – पि०सू० ३/२६, उरोवृहती यास्स्य, ३/३०, सतो बृहती ताण्डिनः ३/३६, सर्वत्र सैतवस्य ५/१८, सिंहोन्नता काश्यपस्य ७/८ अन्यत्र रातमाण्डव्याभ्याम् ७/३५ आदि।

[2] निरुक्त ८/२

"यास्कबाधूकमौनमौकाः।" ये निरुक्त नामक निघण्टुभाष्य के प्रणेता हैं। महाभारत में इन्हें ऋषि के रूप में प्रस्तुत किया गया है– 'यास्को मामृषिख्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।"[1]

३. **ताण्डी** – इनके विषय में महाभारत में कहा गया है कि ताण्डी नाम के एक प्रसिद्ध ऋषि पुत्र थे।[2] महाभारत में ही इन्हें सूत्रकर्ता के रूप में बताया गया है–

ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव।

मत्प्रसादद्विजश्रेष्ठ ! भविष्यति न संशयः।।[3]

सम्भवतः छन्दः सूत्र कर्त्ता की ओर सङ्केत किया गया है।

४. **सैतव** – पिङ्गल, जयकीर्ति तथा यादवप्रकाश आदिकों ने इनके मत के साथ ही नाम का भी निर्देश किया है। नारायण भट्ट ने नामतः सैतवरचित एक पद्य उद्धृत किया है, जिसे हलायुध ने भी पिंगल सूत्र के ५/१८ को टीका में उद्धृत किया है।[4]

५. **काश्यप–** आचार्य पिङ्गल ने सातवें अध्याय में काश्यप के मत को उद्धृत किया है। कृष्णशर्मा ने मन्दारमरन्द की टीका माधुर्यरञ्जिनी में कहा है– 'तत्र भगवता सूत्रकारेण काश्यपेन' इति। कृष्णशर्मा मध्वाचार्य के मतानुयायी थे। मध्वाचार्य का समय १२३६ शकसम्वत् स्वीकार किया जाता है। अतः कृष्णशर्मा का मध्वाचार्य से उत्तरवर्ती होना सिद्ध होता है। चूँकि कृष्णशर्मा ने अपनी टीका में आदर के साथ काश्यप का सूत्रकार के रूप में नाम सङ्कीर्तन किया। अतः आचार्य काश्यप के छन्दः सूत्र प्रणेता होने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं दीख पड़ती ।

---

[1] शान्तिपर्व, ३४३/७२

[2] ऋषिरासीत्कृते तात ! तण्डिरित्येव विश्रुतः (अनु १६/१)

[3] (वहीं अनु० १६/७०)

[4] सैतवेन पथार्णवं तीर्णो दशरथात्मजः।
रक्षः क्षयकरीं पुनः प्रतिज्ञां स्वेन बाहुना।।

६. **रातमाण्डव्य** – छन्दः शास्त्रीय ग्रन्थों में इनका समवेत नाम मिलता है। माण्डव्य का नाम बौधायन सूत्र में भृगुगण के सन्दर्भ में तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में तर्पण प्रकरण में पाया जाता है। महाभारत में माण्डव्य नामक ऋषि का उल्लेख है।[1] इन स्थलों पर केवल माण्डव्य की चर्चा है, रात की नहीं। छन्दः शास्त्रीय ग्रन्थों में द्विवचनान्त होने के कारण दो आचार्यों का बोध होता है। माण्डव्य के नाम से उद्धरण बृहत्संहिता में उपलब्ध होता है–

माण्डव्यगिरं श्रुत्वा न मदीया रोचतेऽथवा नैवम्।[2]
साध्वी तथा न पुसां प्रिया यथा स्याज्जघनचपला।।

रातमाण्डव्य एक ही व्यक्ति हैं या अलग–अलग यह निश्चय नहीं हो पाता। वैसे आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हें अलग–अलग माना है, लेकिन 'रात' के विषय में कुछ भी नहीं कह पाये हैं ।

उपर्युक्त आचार्यों को सन्दर्भ निर्देश में कहीं भी छन्दः शास्त्रीय आचार्य के रूप में नहीं बताया गया है। लेकिन छन्दः शास्त्रीय ग्रन्थों में ही इनके मत की चर्चा की गयी है। अतएव इससे स्पष्ट होता है कि ये छन्दः शास्त्रीय आचार्य ही थे।

२– आचार्य पिङ्गल का छन्दः काल

छन्दः शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य के रूप में पिङ्गल मुनि प्रसिद्ध हैं। लोकविश्रुत होने के कारण छन्द और पिङ्गल एक दूसरे के पर्याय बन गये। आचार्य पिङ्गल की इकलौती कृति 'छन्दःशास्त्रम्' छन्दः शास्त्र की अष्टध्यायी है, जो सूत्रों में उपनिबद्ध होने के कारण 'छन्दःसूत्रम्' के नाम से भी अभिहित है। इसके प्रथम

[1] आदिपर्व अध्याय – १०७, पद्य–८
[2] बृहत्संहिता, अध्याय १०४ पद्य–३

अध्याय मे सूत्रों की संख्या १५, द्वितीय में १६, तृतीय में ६६, चतुर्थ में ५३, पञ्चम में ४४, षष्ठ में ४३, सप्तम मे ३६ तथा अष्टम में ३५ हैं। कुल सूत्रों की संख्या ३०८ है। सूत्रों की संख्या के विषय में मतभेद हैं। यह सूत्र संख्या परिमल पब्लिकेशन्स द्वारा प्रकाशित छन्दः शास्त्रम् की है। इसमें प्रारम्भ से लेकर तीन अध्याय एवं चतुर्थ अध्याय के सात सूत्र वैदिक छन्दों का निरूपण करते हैं, शेष लौकिक छन्दों का विवरण। चतुर्थ अध्याय में मात्रवृत्तों का तथा पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तम अध्याय में वर्णवृत्तों के तीनों भेदों का विवेचन है। अन्तिम अध्याय में प्रस्तारादि षट्प्रत्ययों का विवरण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य पिङ्गल ने अपने स्वल्पकाय ग्रन्थ में गागर में सागर भरने का काम किया है। वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन के हस्तलिखित ग्रन्थागार में छन्दःशास्त्र की अनेक पाण्डुलिपियॉ सङ्गृहीत हैं, जिनकी प्राप्ति संख्या इस प्रकार है—

भाग १— १२२१, ३१, १४२३, १३६८, ३१६, ४४७, २६४६, १०३, १२१, ५५६, ३०८६, १६४३, २८१८, १८२०, २७५५, ५८१, २२६७।

भाग २— ४२२५, ७२३२, ७२४५, ६६७२, ५४००, ६४६१, ६७६८, ६६६४, ७१६०, ५०४६, ६६५२, ५४०२—अ, ४५६७, ७१६३।

भाग ३— ६४६५—ब, ४० ५५०, ७८२३, ७८८५, ८२, ६४, ८३०३, ६२३८, ६३१३, १०५६३, ८३१६, ६१७७, ६६२४, १०५६८, १०६२६।

भाग ४— ११७०३, १३२३४, ११४५१—ब, १३२०६, १३२३२, १३२३३, १३२४२, १३८५६, १३२८५, ११३८७, ११५४०—ब, १३२३५, १३२३६, १३२३७, १३२३८, १३२३६, १३२४०, १३२४१, १३७६७, १३८५८।

अब प्रश्न उठता है आचार्य पिङ्गल कहाँ के निवासी थे एवं इनका समय क्या रहा होगा ? पुष्ट प्रमाणों की अनुपलब्धता के कारण इन प्रश्नों का उत्तर देना दुष्कर है, फिर भी बाह्य साक्ष्यो के आधार पर उत्तर के पास तक पहुँचा जा सकता है।

यदि हम षड्गुरुशिष्य द्वारा उल्लिखित सर्वानुक्रम टीका की ओर दृष्टि डालें, तो उनका यह कथन "सूत्र्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन" पिङ्गल को पाणिनि का अनुज स्वीकार करता है। तब तो इनका जन्म स्थान पाणिनि मुनि की तरह शालातुर तथा जन्म समय ५०० ई०पू० स्वीकार किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ की विषय–प्रतिपादन शैली एवं अध्याय विभाजन आदि के साम्य की दृष्टि से षड्गुरुशिष्य ने इन्हें पाणिनि का अनुज माना होगा। इसका प्रमाण अन्यत्र नहीं उपलब्ध होता। यूरोपीय विद्वान् आचार्य पाणिनि की तरह आचार्य पिङ्गल के जन्म काल को द्वितीय शती मानते हैं,[१] किन्तु यह युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता। पिङ्गल का अर्थ नाग भी होता है, अतः कतिपय छन्दःशास्त्रीय आचार्य अपने छन्दो ग्रन्थ में नागराज, पिङ्गलनाग, भुजङ्ग आदि शब्दों का प्रयोग पिङ्गल मुनि के लिये करते हैं। 'छन्दःशास्त्र' की हलायुध वृत्ति के मङ्गलाचरण में पिङ्गल को 'नाग' कहा गया है।

"श्रीमत्पिङ्गलनागोक्तच्छन्दःशास्त्रमहोदधिः।
वृत्तानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम्।।"

इसी को ध्यान में रखते हुए कुछ विद्वान पिङ्गल मुनि एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि (शेषनाग का अवतार रूप में मान्य) को एक ही व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, प्राकृत छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों 'प्राकृतपैङ्गल', 'छनदोहृदय प्रकाश' तथा 'छन्दोऽर्णवपिङ्गल' में शेषनाग और पिङ्गल को एक ही व्यक्ति के रूप में स्वीकार

---

[१] A.B.Keith & A History of Sanskrit Literature, Page-415

करते हुए एक मनोरञ्जक कथा की ओर सङ्केत किया गया है– 'एक बार शेषनाग जलराधि से बाहर निकलकर धूप का आनन्द ले रहे थे। प्रभात का समय था, बसन्त की हवा बह रही थी। इसी समय भगवान् विष्णु के वाहन, शेषनाग के शत्रु गरुड जी वहाँ आये और उन्होंने शेषनाग को पकडने का सुअवसर जानकर उन्हें पकड़ लिया। प्रथम दृष्ट्या शेषनाग घबराये, किन्तु द्वितीय दृष्ट्या उन्होंने बड़ी ही बुद्धिमत्तापूर्वक गरुड जी से कहा कि– इस संसार में छन्दःशास्त्र का इकलौता जानकार मैं ही हूँ। यदि आप मुझे खा जायेंगे, तो छन्दःशास्त्र का लोप हो जायेगा और कोई भी व्यक्ति इसके विषय में जानकारी प्राप्त नहीं कर सकेगा। शेषनाग ने गरुड से निवेदन किया कि आप मुझे निश्चित रूप से खा डालें, किन्तु इसके पहले एक बार मुझे छन्दःशास्त्र के वर्णन का पूर्ण अवसर दें, जिससे कि कम से कम आप छन्दःशास्त्र के विषय में जान सकें। गरुड इस शर्त पर तैयार हो गये, किन्तु उन्होंने भी एक शर्त रखी कि छन्दःशास्त्र का वर्णन समाप्त होते ही आप यहाँ से भागेंगे नहीं। इतना कहकर गरुड ने शेषनाग को छोड़ दिया। शेषनाग ने छन्दःशास्त्र का वर्णन इतने सुन्दर ढंग से किया कि गरुड मन्त्रमुग्ध हो गये। शेषनाग ने भागने का उचित अवसर देखकर चार बार 'भुजङ्गप्रयात' का उच्चारण किया और जल में कूद पडे। गरुड ने शेषनाग पर धोखा देने का आरोप लगाया। शेषनाग ने अपनी सफाई पेश करते हुए कहा कि ''मैं 'भुजङ्गप्रयात' पद द्वारा एक छन्द विशेष के वर्णन के साथ ही जाने की सूचना दे रहा था कि अब मैं जा रहा हूँ।''[१] किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के नवाह्निक में 'पैङ्गलकाण्व'[२] शब्द का उल्लेख किया है, जिससे पिङ्गल की पूर्वकालिकता सिद्ध होती है और साथ ही पिङ्गल तथा

---

[१] प्राकृतपैङ्गलम्– मङ्गलाचरण।

[२] महाभाष्य, अह्निक ६, सूत्र ७३

पतञ्जलि को एक मानने की परम्परा भी अपास्त होती हुई प्रतीत होती है। शबर स्वामी ने अपने मीमांसा भाष्य में पिङ्गल का नाम तथा सर्वगुरु 'मगण'[1] का निर्देश किया है, जिससे महर्षि पाणिनि से भी इनकी पूर्वकालिकता सिद्ध होती है। महाभारत[2] में पिङ्गल का नाम मिलता है, परन्तु मुनि न होने के कारण यह छन्दःशास्त्रीय आचार्य पिङ्गल नहीं प्रतीत होते हैं। पुराणों में पिङ्गल का उल्लेख अनेकशः मिलता है, किन्तु इनमें छन्दो–निरूपण पिङ्गलानुसारी ही है, अतः आचार्य पिङ्गल पुराणों से पूर्वकालिक सिद्ध होते हैं। वामन पुराण में ये प्रातःस्मरणीय आचार्यो में आसुरि के साथ याद किये गये हैं।[3]

इस प्रकार विविध साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए आचार्य पिङ्गल का समय ५०० ई०पू० माना जा सकता है।

आचार्य पिङ्गल ने अपने ग्रन्थ में दो सूत्र[4] 'अपरान्तिका', 'वनवासिका' दिये हैं, जिससे उनके निवास स्थान की ओर सङ्केत प्राप्त होता है। ये दोनों शब्द पश्चिमी समुद्रतटीय प्रदेशों (सम्भवतः बम्बई के पास दक्षिण कोंकण प्रदेश) में स्त्रीजनों के लिये प्रयुक्त होता है। अतः पिङ्गल मुनि का इन स्थानों के प्रति अनुराग दीख पडता है। पञ्चतन्त्रकार ने निर्देश किया है कि छन्दो–ज्ञान के निधि पिङ्गल को मकर ने समुद्र के तट पर मार डाला।[5] ये दोनों आचार्य पिङ्गल के समुद्र तटीय निवासी होने की ओर सङ्केत करते हैं–हो सकता है कि आचार्य पिङ्गल का निवास स्थान पश्चिमी समुद्रतटीय दक्षिण कोंकण प्रदेश रहा हो, किन्तु जन्म–समय एवं जन्म–स्थान के विषय में इदमित्थं रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

---

[1] यथा मकरेण पिङ्गलस्य सर्वगुरुस्त्रिकः प्रतीयते, मी० भा० १/१/५

[2] निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा आदि पर्व ३५/६

[3] सनत्कुमार सनकः सनन्दनः सनातनोप्यासुरिपिङ्गलौ च।

[4] ४/४१, ४/४३

[5] छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम् – पञ्चतन्त्र २/२६

टीका सम्पत्ति–

१. भट्ट हलायुध – भट्ट हलायुध 'छन्दःसूत्र' के प्रथम टीकाकार हैं, जिन्होंने 'मृतसञ्जीवनी' नाम्नी टीका लिखी, जिसे व्यवस्थित विभाग से 'हलायुध वृत्ति' भी कहा जाता है। हलायुध ने 'कविरहस्य' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है, जिसमें उन्होंने अपने उपजीव्य का नाम राष्ट्रकूट कुलोद्भव 'कृष्णराज' लिया है। राष्ट्रकूट वंश में तीन कृष्णों का व्याख्यान मिलता है–

१. कृष्णराज शुभतुङ्ग २. कृष्णराज अकाल वर्ष ३. तृतीय का भी नाम कृष्णराज अकाल वर्ष था। इनका समय शकसम्वत् ८६७ से शकसम्वत् ८८८ निश्चित होता है। हलायुध ने तृतीय अकालवर्ष को ही अपने ग्रन्थ 'कविरहस्य' में नायक घोषित किया है। इसके बाद दानपत्र लेख से पता चलता है कि राजा खुडिगदेव, जो तृतीय कृष्णराज अकालवर्ष का वैमात्रेय भ्राता था, शकसम्वत् ८८८ से शकसम्वत् ८६३ तक राजगद्दी पर बैठा। पिङ्गल सूत्र की लिखित पाण्डुलिपि ने दो स्थानों पर खुडिगदेव का नाम निर्देश है।[1] अतः भट्ट हलायुध इन्हीं दोनों का समकालिक रहा होगा। तत्पश्चात् वह मालवनरेश वाक्पतिराज के नाम से विख्यात मुञ्ज के आश्रम में चला गया। हलायुध के द्वारा वाक्पतिराज की प्रशंसा में स्वनिर्मित अनेक पद्यों से यह पुष्ट होता है (४/१६, ५/३४, ५/३६, ७/५, ८/१२)[2]। इन विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है कि छन्दः शास्त्र पर 'मृतसञ्जीवनी' वृत्ति का यही समय रहा होगा।

---

[1] त्वया कृतपरिग्रहे खुडिगवीर् ! सिंहासने – लि०पा० ७/१७

[2] ४/१५ का उदाहरण
ब्रह्मक्षत्रकुलीनः समस्तसामन्तचक्रनुतचरणः।
सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान् मुञ्जश्चिरं जयति।।

२. यादवप्रकाश –

आचार्य यादवप्रकाश ने पिङ्गल के छन्दःशास्त्र पर 'पिङ्गलनागछन्दोविचिति' नाम से भाष्य लिखा, जो अभी तक अप्रकाश्य है, यह खेद का विषय है। यह भाष्य अत्यन्त प्रामाणिक एवं पाण्डित्यपूर्ण है। इसमें वैदिक छन्दो–विषयक अधिक जानकारी मिलती है, जिस कारण वैदिक छन्दोज्ञान के लिये अन्य टीकाओं की आवश्यकता न के बराबर है। लौकिक–छन्दों के वर्णन–प्रसङ्ग में ये पिङ्गल के पूरक सिद्ध होते हैं। इन्होंने नवीन छन्दों की उद्भावना कर उनका लक्षण पिङ्गल की शैली में एवं वृत्तों का उदाहरण स्वरचित पद्यों में दिया है।

यादवप्रकाश रामानुजाचार्य के गुरु के रूप में वेदान्त साहित्य में विख्यात हैं। रामानुजाचार्य का समय १०१७ ई० से ११३७ ई० माना जाता है, अतः इनका समय दशम शती के अन्तिम चरण से लेकर ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। वैजयन्ती कोश के रचयिता होने के कारण भी पर्याप्त विश्रुत हैं। इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'यतिधर्मसमुच्चय' हस्तलिखित प्रति में प्राप्य है।

३. भास्करराय –

भास्करराय ने पिङ्गल छन्दः सूत्र पर 'भाष्यराज' नामक टीका का प्रणयन काशी में किया।[1] इन्होनें केवल सत्रह वर्ष की अवस्था में 'सत–कौस्तुभ' नामक छन्दोग्रन्थ लिखा। २०वें वर्ष में वृत्तरत्नाकर के ऊपर 'मृतजीवनी' व्याख्या लिखी। ५०वें वर्ष में उन्होंने 'वृतचन्द्रोदय' नामक प्रकृष्ट छन्दोग्रन्थ की रचना की। इन्होंने छन्दःविषयक चार ग्रन्थ लिखे, जो प्रणयन–क्रमानुसार इस प्रकार हैं–

---

[1] वेदाङ्गछन्दः सूत्रभाष्यराजोऽयमधिकाशि सम्पूर्ण.

– बलदेव उपाध्याय – संस्कृतशास्त्रों का इतिहास पृ० ३००

१. सत–कौस्तुभ, १६६७ ई० २. मृतजीवनी व्याख्या, १७०० ई०

२. वृत्तचन्द्रोदय, १७३० ई० ४. पिङ्गल सूत्रभाष्यराज, १७३६ ई०।

इनमे वृत्तचन्द्रोदय छन्दःशास्त्र का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है ।

भास्करराय महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका अधिकॉश समय काशी में बीता। इनका समय सत्रहवी शती का अन्तिम तथा अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जाता है। (१६८० ई० – १७४५ ई०)

आचार्य पिङ्गल की 'छन्दःशास्त्र' की उपर्युक्त टीका में हलायुध वृत्ति ही सर्वलोकप्रिय है।

आचार्य पिङ्गल का उत्तरकालिक छन्दःकाल

१. **शौनकीय प्रातिशाख्य** :– आचार्य पिङ्गल के उत्तरकालिक छन्दोग्रन्थ के रूप में सबसे पहले हम शौनकीय प्रातिशाख्य को लेते हैं। प्रकृत प्रातिशाख्य में अन्तिम १६ से लेकर तीन पटलों में वैदिक छन्दों के लक्षण निरूपित किये गये हैं। यद्यपि कुछ लोग इसे अत्यन्त प्राचीन स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रातिशाख्य के छन्दःविषयक पटलों के अनुशीलन से पता चलता है कि यह आचार्य पिङ्गल का उत्तरकालिक है, पूर्वकालिक नहीं, क्योंकि इसमें छन्दों के अत्यन्त सूक्ष्म भेद किये गये हैं, जो पूर्व में विद्यमान किसी छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ (और वह पिङ्गल का 'छन्दःशास्त्र' ही हो सकता है) के सम्भव नहीं है। प्रातिशाख्य में 'यजुषां षड्चां त्रिःषट् साम्नां द्वादश सम्पदि'[1] यह व्याख्यान छन्दःसूत्र के 'यजुषां षट्', 'साम्नां द्विः', 'ऋचां त्रिः' इन त्रिविध सूत्रों का अनुवाद मात्र प्रतीत होता है। एतदतिरिक्त छन्दःशास्त्र में

---

[1] शौनकीय प्रातिशाख्य (१६/१२)

'न्यङ्कुसारिणी' को क्रौष्टुकि के मत में 'स्कन्धोग्रीवी'[1] तथा यास्क के मत में 'उरोबृहती'[2] यह कहा गया है, जबकि प्रातिशाख्य में इस प्रकार का व्याख्यान है–'न्यङ्कुसारिणी। स्कन्धोग्रीव्युरोवृहती त्रेधैनां प्रतिजानते।'[3] यह भी छन्दःसूत्र का अनुवाद प्रतीत होता है। इन सबका विश्लेषण करने पर आचार्य पिङ्गल की प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

कात्यायन :–

आचार्य कात्यायन की भी आचार्य पिङ्गल से अर्वाचीनता सिद्ध होती है, क्योंकि इनके द्वारा प्रणीत ऋक्सर्वानुक्रम सूत्र पूर्णतया प्रातिशाख्य के अनुसार ही है।

अग्निपुराण :–

अग्निपुराण के 'आग्नेय छन्दःसार' शीर्षक के अन्तर्गत अध्याय ३२८ से अध्याय ३३५ तक क्रमशः परिभाषा, दैव्यादिसञ्ज्ञा, पादाधिकार, उत्कृति आदि वर्णवृत्त, आर्या आदि मात्रावृत्त, विषमवृत्त, अर्द्धसमवृत्त, समवृत्त, प्रस्तारादिकों का विवेचन समुपलब्ध होता है। ये सभी आचार्य पिङ्गलोक्त छन्दों का अनुवादमात्र ही हैं, क्योंकि स्वयं पुराणकार ने प्रतिज्ञा की है कि पिङ्गलमत के अनुसार ही छन्दों का लक्षण कहा जायेगा– 'छन्दो वक्ष्ये मूलशब्दैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्।'[4]

गरुडपुराण :–

गरुडपुराण के अध्याय २०७ से लेकर अध्याय २१२ तक अर्थात् छः अध्यायों में छन्दःशास्त्र का पूर्ण विवरण समुपलब्ध होता है। क्रमशः परिभाषा, मात्रावृत्त, समवृत्त, अर्द्धसमवृत्त, विषमवृत्त और प्रस्तारादि के वर्णन द्रष्टव्य हैं। इस पुराण में कुछ नवीन

---

[1] छन्दःसूत्र अध्याय–३, सूत्र–२६

[2] वही – अध्याय–३, सूत्र–३०

[3] शौनकीय प्रतिशाख्य पटल–१६, पद्य–४३

[4] अग्निपुराण, अध्याय ३२८, पद्य–१

छन्द– जो छन्दःसूत्र में नहीं कहे गये हैं–पाये जाते हैं। यह केवल लौकिक छन्दो का निरूपण करता है। भास्करराय के द्वारा यह 'गरुडाम्नाय' के नाम से अभिहित है।

नारदीय पुराण :–

नारदीय पुराण के पूर्वखण्ड के अध्याय ५७ में छन्दःभेद[1] की चर्चा करके गणसञ्ज्ञा, समार्द्धसमादि वृत्त, उक्तादि सञ्ज्ञा और प्रस्तार का निरूपण है। अन्ततः 'इत्येतत्किञ्चिदाख्यातं छन्दसां लक्षणं मुने। प्रस्तारोक्तप्रभेदानां नामानन्त्यं प्रजायते।।[2] यह कहकर विषय का उपसंहार किया गया है। इसमें वृत्त का प्रातिस्विक लक्षण नहीं है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण :–

इस पुराण के तृतीय खण्ड के तीसरे अध्याय में गायत्री आदि के सामान्य लक्षण के साथ–साथ लघु, गुरु एवं प्रस्तार का निरूपण किया गया है। अन्त में –

दिङ्मात्रमेतत्कथितं नरेन्द्र ! विस्तारजिज्ञासुखो मनुष्यः।
संसाथयेत्तत्स्वधिया यथावत्सुदुस्तरं विस्तरशो हि वक्तुम्।।[3]

ये सभी आर्षछन्दोग्रन्थ हैं, जिनमें आचार्य पिङ्गल के छन्दः सूत्र को आधार मानकर छन्दःविषयक सिद्धान्त एवं लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं।

नाट्यशास्त्र – आचार्य भरत : –

व्यावहारिक दृष्टि को अङ्गीकृत करते हुए नाट्य व्यवहार को ध्यान में रख कर आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्रम्' के पन्द्रहवें एवं सोलहवें अध्याय में 'छन्दोविधान' एवं 'छन्दोविचिति' का सविस्तार निरूपण किया है। नाट्य के सन्दर्भ में

---

[1] लौकिकं वैदिकं चापि छन्दोद्विविधमुच्यते – नारदीय पुराण
[2] नारदीय पुराण अध्याय–५७, पद्य–२१
[3] विष्णुधर्मोत्तरपुराण अध्याय–३, पद्य–२०

छन्दों का निरूपण आवश्यक है, क्योंकि नाट्य में वृत्तात्मक पद्यों का व्यवहार होता है। अतः नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ में छन्दोविधान का निरूपण युक्ति–सङ्गत है।

आचार्य ने अपने ग्रन्थ में छन्दोविधान एवं छन्दोविचिति के सन्दर्भ में सिद्धान्त एवं लक्षण तो पिङ्गलानुसारी ही दिये हैं, लेकिन लक्षण–निर्देश में कुछ मौलिक प्रतिभा भी दिखाई पडती है। आचार्य भरत पिङ्गलोक्त अष्टगणों से परिचित हैं तथा उनके नाम पिङ्गल द्वारा प्रदत्त नाम ही हैं, किन्तु छन्दों के लक्षण देते समय वे गुरु–लघु पद्धति को अपनाते हैं।[1] यह पद्धति आचार्य की मौलिक प्रतिभा का परिणाम प्रतीत होती है, क्योंकि इनके पहले स्वरूप–निर्धारण के लिये यह पद्धति नहीं प्राप्त होती। उदाहरण सभी स्वरचित पद्य हैं और मुद्रालङ्कार के माध्यम से उन छन्दों के नाम भी आ गये हैं, जिनके उदाहरण दिये गये हैं।[2] सम्भवतः यह आचार्य की मौलिक सूझ ही है, क्योंकि ऐसा प्रयोग इनके पहले नहीं पाया जाता है। छन्दःशास्त्रीय आचार्य के रूप में भी भरत का योगदान किसी भी छन्दः शास्त्रीय आचार्य से कम नहीं है।

श्रुतबोध – कालिदास :–

लौकिक छन्दों का अत्यन्त सरल रूप जिस छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ में देखने को मिलता है, वह है– 'श्रुतबोध' और इसके प्रणेता हैं– 'कालिदास'। यह कालिदास दीपशिखा कालिदास ही हैं, या कोई और, इस विषय में निश्चितता का अभाव है। वैसे कुछ विद्वान् इसे दीपशिखा कालिदास की ही रचना मानते हैं। कतिपय विद्वान् उपलब्ध कालिदास नाम के लेखकों में तीसरे कालिदास को इसका लेखक मानते हैं।[3] निश्चित

---

[1] द्वितीयं पञ्चमञ्चैव लघु यत्र प्रतिष्ठितम्।
शेषाणि च गुरूणि स्युर्मालती नाम सा यथा।। — नाटयशास्त्र अध्याय– १६, पद्य– ६

[2] शोभते बद्धया षट्पदाविद्धया।
मालतीमालया मानिनी लीलया।। — नाटयशास्त्र अध्याय–१६, पद्य–७

[3] M. Krishnamachariar] "History of Classical Sanskrit Literature" Page 908

रूप से मेरी विनम्र मान्यता है कि कवि कुलगुरु कालिदास कहीं पर भी आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुए हैं, अतः उनके द्वारा इस शास्त्रीय ग्रन्थ के प्रतिपादन का प्रश्न ही नही उठता। हॉ, कालिदास के नाम से विख्यात होना ही इसके महत्त्व को प्रकट कर देता है। संस्कृत काव्यों में प्रचलित छन्दों का विवरण इसका वैशिष्ट्य है। कुल ४० छन्दों का विवेचन है, जिसमें मात्रावृत्तों में आर्या, गीति तथा उपगीति, शेष ३७ वर्णवृत्तों का विवेचन है। गणों के नाम तथा रूप का उल्लेख है, परन्तु लक्षण विन्यास में गणपद्धति का उपयोग न कर आचार्य भरत का अनुकरण करते हुये लघु–गुरु वाली पद्धति को अपनाया गया है। लक्षण तथा लक्ष्य दोनों को एक ही पद्य के माध्यम से लक्षित किया गया है, जिससे इसकी उपयोगिता स्पष्ट होती है।

प्रश्न उठता है कि श्रुतबोध के लेखक कालिदास का नाम किसी भी छन्दःशास्त्रीय आचार्य ने नहीं लिया है, इसका क्या कारण है? इसके पीछे इसकी सुगमता एवं सरलता ही कारण हो सकती है। वृन्दावन शोध संस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थागार में श्रुतबोध की अनेक पाण्डुलिपियॉ सङ्गृहीत हैं, जिनकी प्राप्ति संख्या इस प्रकार है–

भाग १ – ३११५, ३११६, ३११७, ३११८

भाग २ – ६२२७, ६२२८, ६२२९, ६२३०, ६२३१

भाग ३– ६६१२, ६६१३, ६६१४, ६६१५, ६६१६, ६६१७

भाग ४ – १२६६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७००, ०१, ०२

श्रुतबोध के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि कवियों ने किस प्रकार नये छन्दों की उद्भावना की होगी। कवियों ने प्रस्तार विधि से कृत्रिम छन्दों की वृद्धि नहीं की होगी, वरन् लय साम्य के आधार पर लघु गुरु वर्णों के यत्किञ्चित् परिवर्तन द्वारा ही नवीन छन्दों की उद्भावना की होगी। यह कालिदास के विवेचन से स्पष्ट है।

बृहत्संहिता –वराहमिहिर :–

नानाविध विद्याओं के लिये विश्वकोश के रूप में जाना जाने वाला 'बृहत्संहिता' वराहमिहिर द्वारा लिखित है। यह मूलतः ज्योतिष–ग्रन्थ है, किन्तु देहलीदीपकन्यायेन अनेक विध उपयोगी विषयों की भी चर्चा है। इसके अध्याय १०४ में ग्रहगोचरों का वर्णन विविध छन्दों में कर मुद्रालङ्कार के माध्यम से छन्दों के नाम भी निर्दिष्ट कर दिये गये हैं, किन्तु इनका उपजीव्य कौन है? यह कहना सन्दिग्ध है। वैसे तो इनका समय षष्ठशती माना जाता है, इस आधार पर आचार्य पिङ्गल एवं भरत इनके उपजीव्य हो सकते हैं, किन्तु कहीं भी इनका निर्देश नहीं है। मुद्रालङ्कार के द्वारा उदाहरण एवं तत्तद् छन्दों का नाम निर्देश होने के कारण आचार्य भरत को इनका उपजीव्य कहा जा सकता है। इस अध्याय की वृत्ति में भट्टोत्पल ने मूलकारिका मे सङ्केतित वृत्त का लक्षण विस्तार के साथ प्राचीन लक्षणों को उद्धृत कर दिया है, किन्तु उद्धरण सन्दर्भ न होने से ग्रन्थ का पता नहीं चलता है। हाँ, इतना जरूर स्पष्ट होता है कि यह कोई प्रकृष्ट छन्दो–ग्रन्थ रहा होगा। इस अध्याय में वराहमिहिर ने श्रुतिसुखदवृत्त का ही सङ्ग्रह किया है। उनका कथन है कि प्रस्तारजनित छन्दों के विस्तार को जानकर भी इतना ही कार्य होता है।[1] मात्रावृत्त तथा वर्णवृत्त दोनों को मिलाकर भट्टोत्पल ने लगभग ६० छन्दों का लक्षण सङ्गृहीत किया है। उत्पल का समय नवम शती तथा वराहमिहिर का षष्ठ शती है। अतः यह समय आचार्य भरत एवं 'जयदेवच्छन्दः' के लेखक जयदेव के मध्यवर्ती समय से सम्बन्ध रखता है। इस समय में छन्दोग्रन्थ प्रणयन या चिन्तन–मनन का क्रम निरन्तर चलता रहा ।

---

[1] विपुलामपि बुद्ध्वा छन्दोविचिति भवति कार्यमेतावत्।
श्रुतिसुखदं वृत्तिसङ्ग्रहमिममाह वराहमिहिरोऽतः।। – बृहत्संहिता १०४/६४

जनाश्रयी छन्दोविचिति – जनाश्रय :–

जनाश्रय की गणना भी छन्दःशास्त्रीय आचार्यों में होती है।[1] इन्होने षडध्यायों वाला 'जनाश्रयी छन्दोविचिति' नामक सूत्रात्मक छन्दोग्रन्थ का प्रणयन किया। सूत्रों के ऊपर अज्ञातनामा एक सुबोध वृत्ति भी है, जिसमें प्राचीन महाकवियों कालिदास, भारवि, कुमारदास, अश्वघोष आदिकों के पद्यों को उदाहरण के रूप में दिया गया है। इन्होंने कुमारदासकृत जानकीहरण महाकाव्य के दो श्लोक (१/३०, १/३७) उद्धृत किया है। इससे ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का समय छठीं शती ठहरता है।

ये पिङ्गल सम्मत होते हुए भी कुछ बिन्दुओं पर असम्मत भी हैं। मुख्य भेद यह है कि पिङ्गल के अनुसार गणों की संख्या आठ है, किन्तु इन्होनें गणों की संख्या अठारह मानी है।[2] वैदिक छन्द विहीन इसके प्रथम अध्याय में छन्दःशास्त्रीय परिभाषिक सञ्ज्ञायें हैं, द्वितीय अध्याय में विषम वृत्तों का निरूपण है, तृतीय अध्याय में अर्द्धसम वृत्तों का, तो चतुर्थ अध्याय में सम वृत्तों का विवेचन है, पञ्चम अध्याय में वैतालीय, मात्रासमक, आर्या नामक त्रिविध जातिच्छन्दों का विवरण है, तो षष्ठ अध्याय प्रस्तार का वर्णन करता है।

सूत्रकार एव वृत्तिकार के भिन्न एवं अभिन्न होने में मतवैभिन्य है, किन्तु पूर्ववर्ती छन्दोग्रन्थ के आधार पर एवं कतिपय सूत्रों[3] कि वृत्ति से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रकार एवं वृत्तिकार दोनों अलग–अलग हैं, एक नहीं। सूत्रों के प्रणेता के विषय

---

[1] माण्डव्य पिङ्गल–जनाश्रय–सैतवाख्य श्रीपादपूज्य–जयदेव –बुधादिकानाम्।
छन्दांसिवीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान् छन्दोऽनुशासनमिदं जयकीर्तिनोक्तम्।।
जयकीर्ति–छन्दोनुशासन ८ अधि०/अन्तिम् श्लोक

[2] छन्दोविचिति, १/१८–३५

[3] भाहेति समानम् २/३, ४/३ तथा ५/४३

में ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक[1] से यह पता चलता है कि जनाश्रय उपाधिधारी कोई राजा थे, जिनका मूल नाम माधव वर्मा था।

जयदेवच्छन्द – जयदेव :–

जनाश्रयी–छन्दोविचित्ति के पश्चात् 'जयदेवच्छन्दः' नामक छन्दोग्रन्थ का प्रणयन हुआ, जिसके प्रणेता हैं– प्रौढ़ छन्दःशास्त्री जयदेव। यह भी पिङ्गलानुसारी ही है, अर्थात् इस ग्रन्थ का भी उपजीव्य आचार्य पिङ्गल का सूत्र ही है। आकार एवं वर्णन में भी पिङ्गल के छन्दःसूत्र की ही तरह है। यह भी अष्टध्यायी ग्रन्थ है, जिसके प्रथम तीन अध्याय वैदिक छन्दों के लिए समर्पित हैं तो शेष पाँच अध्याय लौकिक छन्दों का निरूपण करते हैं, किन्तु यह सूत्र शैली में उपनिबद्ध न होकर वृत्त शैली में लिखा गया है, जो इनकी मौलिकता का सूचक है। यही वृत्तशैली पश्चाद्वर्ती छन्दः ग्रन्थकारों के लिए आदर्श के रूप में प्रस्तुत होती हुई दीख पड़ती है। जैसे इन्द्रवज्रा छन्द का लक्षण इन्द्रवज्रा में ही किया गया है, जिस कारण छन्दों के पृथक् उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसका प्रकाशन ताड़पत्र पर लिखित हस्तलिपि के आधार पर हुआ है। इसके दो भाग हैं– प्रथम में १० पृष्ठ हैं, जिनमें 'जयदेवच्छन्दः' का पाठ है। द्वितीय भाग में जयदेवच्छन्दः की हर्ष–विरचित विवृति है, जो पृथक् रूप से अङ्कित पृ० १ से ४४ तक है। यह प्रति जयसलमेर[2] के भण्डार में सुरक्षित है।

आचार्य जयदेव एक प्राचीन छन्दःशास्त्रीय आचार्य हैं, क्योंकि इनके मत का उल्लेख १००० ई० के पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारों ने किया है। जैन ग्रन्थकारों ने विशेष रूप से इनके मत का उल्लेख किया, जिस कारण इनके जैन मतावलम्बी होने का

---

[1] स भूपतिरुदारधीर्जयति सम्पदेकाश्रयो जनाश्रय इति श्रिया वहति नाम सार्थं विभुः।
मखैरुरुभिरद्भुतैर्मघवतो जयश्रीरपि जिता विजितशत्रुणा जगति येन रुद्धाचरत्।

[2] मात्रिक छन्दों का विकास, पृष्ठ ४१

अनुमान किया जाता है। भट्ट हलायुध ने इनके मत का खण्डन दो स्थलों[1] पर किया है और उपहास के निमित्त इनके लिए 'श्वेतपट' (श्वेताम्बरी जैन) का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त वृत्तरत्नाकर के टीकाकार सुल्हण ने जयदेव के मत का खण्डन 'श्वतेपट' के नाम से किया है। इन दोनों उद्धरणों से जयदेव के जैनी होने के स्पष्ट सङ्केत मिलते हैं। जैन ग्रन्थकार जयकीर्ति, नेमिसाधु तथा हेमचन्द्र आदि इन्हें पिङ्गल के समकक्ष आदर देने के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि वृत्तरत्नाकर जैसा सुव्यवस्थित होने पर भी इनका ग्रन्थ वैदिक मतावलम्बियों के बीच समादृत न हो सका। इस ग्रन्थ के टीकाकार हर्षट (सम्भवतः मुकुलभट्ट के पुत्र) हैं, जैसा कि वृत्ति की पुष्पिका से स्पष्ट है। मम्मट ने काव्य प्रकाश में मुकुलभट्ट के मत का खण्डन किया है। परिणामतः हर्षट का समय दशम शती का पूर्वार्द्ध (९७५ ई०) मानना समीचीन है। इस आधार पर जयदेव का समय नवमशती का अन्तिम चरण (८७५ ई०) माना जा सकता है।

छन्दोऽनुशासन – जयकीर्ति :–

'छन्दोऽनुशासन' अष्ट अधिकारात्मक छन्दोग्रन्थ आचार्य जयकीर्ति द्वारा प्रणीत है। छन्दोऽनुशासन केवल लौकिक छन्दों को ही समर्पित है। इसमें वैदिक छन्दों का निरूपण नहीं है। समग्र ग्रन्थ आर्या तथा अनुष्टुप् छन्दों में निबद्ध है। छन्द का लक्षण वृत्त शैली में किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में यति मानने वाले और न मानने वाले आचार्यों का सङ्कलन है–

> वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गल–वशिष्ठ–कौण्डिन्य–कपिल–कम्बलमुनयः।[2]
> नेच्छन्ति भरत–कोहल–माण्डव्याश्वतर सैतवाद्याः केचित्।।

---

[1] पिङ्गलसूत्र १/१०, ५/८

[2] छन्दोऽनुशासन अधिकार –१, पद्य–१३

ग्रन्थ के अन्त में माण्डव्य, पिङ्गल, जनाश्रय, सैतव, जयदेव प्रभृति छन्दःशास्त्रीय आचार्यों का नामसङ्कीर्तन है। जैसा कि जनाश्रय–जनाश्रयी छन्दोविचिति की टिप्पणी में उल्लेख किया जा चुका है। इस ग्रन्थ का सप्तम अधिकार कन्नड़ भाषा के छन्दों का निरूपण करता है। अत एव जयकीर्ति को कन्नड़ देश का निवासी मानना असङ्गत न होगा। ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में उन्होंने 'वर्धमान' की वन्दना की है, जिससे उनके जैन होने की ओर सङ्केत मिलता है। इनका समय दशम शती के आस–पास माना जा सकता है।[1]

रत्नमञ्जूषा :–

छन्दःशास्त्र के विकास क्रम में 'रत्नमञ्जूषा' भी गवेषणीय है, जिसके कर्ता के विषय में जानकारी नहीं प्राप्त होती। हाँ, इतना अवश्य है कि इसके कर्त्ता जैन मतावलम्बी थे। मूल ग्रन्थ सूत्रात्मक है, जिस पर अज्ञातनामा छन्दःशास्त्रीय आचार्य का भाष्य है, जो निश्चित रूप से जैन मत के अनुयायी थे। भाष्य के मङ्गल श्लोक में 'वीर' की स्तुति होने के कारण भाष्यकार का जैनत्व प्रकट होता है। भाष्य के अन्त में ग्यारह पद्य ऐसे मिलते हैं, जो लेखक द्वारा उद्धृत से प्रतीत होते हैं और अन्तिम ग्यारहवें पद्य में 'पुन्नागचन्द्र' नामक रचयिता के नाम का भी उल्लेख किया गया है।[2] अतः सम्भव है कि पुन्नागचन्द्र ही इसके लेखक हों।

प्रकृत छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ का भी उपजीव्य पिङ्गल का छन्दःसूत्र ही रहा होगा, ऐसा उसके कलेवर एवं विवेचन शैली से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह छन्द–मञ्जूषा अनेक नवीनताओं के कारण अपना अलग ही महत्त्व रखती है। आचार्य पिङ्गल की तरह ही यह भी अष्टध्यायी ग्रन्थ है। वैदिक छन्दों को छोड़कर

---

[1] The date of Jauakirti. An article on Mr. Govind Pai in the 'कन्नडत्रैमासिकं प्रबुद्धकर्णाटकम्'

[2] एकच्छन्दसि खण्डेमेरुरमलः पुन्नागचन्द्रोदितः – अन्तिम पङक्ति, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६४४

लौकिक छन्दों की विवेचन शैली लगभग एक जैसी है, किन्तु चिह्न विषयक मतभेद है। जहाँ एक ओर पिङ्गल त्रिकात्मक अष्टगणों को स्वीकार करते हैं, जो व्यञ्जनादि हैं, किन्तु यह त्रिकात्मक अष्टगणों को तो स्वीकार करती है, लेकिन गणों का प्रदर्शन करने वाले चिन्ह (भ, ज, स) को बदल देती है। इस चिन्ह प्रदर्शन के दो वर्ग हैं– व्यञ्जनात्मक और स्वरात्मक, यथा पिङ्गलोक्त 'म' यहाँ 'क' अथवा 'आ' का रूप लेता है तथा सर्वलघु 'न' यहाँ 'ह' या 'इ' के रूप में प्रदर्शित है। मात्रावृत्तों में पिङ्गलोक्त चतुष्कला का उल्लेख किया गया है। प्रति अध्याय सूत्रों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है– २६, २८, २८, २०, ३७, ३८, ३४ तथा १६ । ग्रन्थ निर्माण का समय ग्यारहवीं शती माना जा सकता है।

सुवृत्ततिलक – क्षेमेन्द्र :–

छन्दःशास्त्र के प्रमुख तीन अङ्ग हुआ करते हैं– वृत्त का स्वरूप परिचय, गुणदोष–विवेचन तथा वृत्त–विनियोग। इन तीनों अङ्गों को पूर्णतः समेटे हुए यदि कोई छन्दःग्रन्थ है, तो वह है– 'सुवृत्ततिलक' जिसके कर्त्ता महाकवि क्षेमेन्द्र हैं। प्रकृत छन्दोकृति में केवल वार्णिक वृत्तों के विषय में ही अङ्गत्रय के माध्यम से विचार किया गया है। इसमें तीन विन्यास हैं। प्रथम विन्यास का नाम वृत्तावचय है, दूसरे विन्यास का नाम गुणदोष–प्रदर्शन तथा तीसरे विन्यास का नाम वृत्त–विनियोग है। वृत्तावचय छन्दों के स्वरूप का ज्ञान कराता है, गुणदोष–प्रदर्शन शब्द शिल्प या शब्द योजना की कला सिखाता है तथा वृत्तविनियोग विषयानुरूप छन्दों की चर्चा करता है। वृत्त–विनियोग नामक तृतीय विन्यास छन्दोग्रन्थों में अपूर्व है। यह विन्यास आचार्य क्षेमेन्द्र के लम्बे जीवन के काव्यानुशीलन का अनुभव प्रतीत होता है। क्षेमेन्द्र का स्पष्ट कथन है कि काव्य में रस एवं वर्णन के अनुसार ही वृत्त का विनियोग करना

चाहिये।[1] एतदर्थ उन्होंने अनुष्टुप् आदि कतिपय छन्दों के विषय भी निर्धारित किये हैं।[2] ग्रन्थकार ने विशिष्ट कवियों के विशिष्ट छन्दों का भी निर्देश किया है, जो सर्वप्रकारेण नूतन एव मौलिक सूझ है। क्षेमेन्द्र का कथन है कि कालिदास का श्रेष्ठ एवं प्रिय वृत्त है– मन्दाक्रान्ता, भवभूति की शिखारिणी, राजशेखर का शार्दूलविक्रीड़ित, भारवि का वंशस्थ तथा पाणिनि की उपजाति।

महाकवि क्षेमेन्द्र के पिता का नाम प्रकाशेन्दु तथा इनका अपरनाम व्यासदास था।[3] सर्वमनीषिशिष्य तथा परममहेश्वर भी इनके उपनाम मिलते हैं। दादा(पितामह) का नाम निम्नाशय तथा पुत्र का नाम सोमेन्द्र था। ये कश्मीरी ब्राह्मण थे। तत्कालिक कश्मीरी शासक अनन्त देव के राजपण्डित थे।[4] इनका शासनकाल १०५० ई० से १०७२ ई० माना जाता है। अतः क्षेमेन्द्र का समय भी ग्यारहवीं शती का मध्य ठहरता है।

वृत्तरत्नाकर – केदारभट्ट : –

सम्प्रति छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में एक सर्वाधिक लोकप्रिय नाम उभरता है और वह है वृत्तरत्नाकर, जो षडध्यायी है, जिसके प्रणेता हैं– केदारभट्ट, जो छन्दः शास्त्रीय इतिहास में मध्ययुग से सम्बन्ध रखते हैं। ग्रन्थ का परिमाण है–१३६ श्लोक।[5] प्रकृत ग्रन्थ का प्रथम अध्याय सञ्ज्ञाओं का निर्देश करता है, तो दूसरे अध्याय में मात्रिक छन्दों का निरूपण है, तृतीय अध्याय समवर्ण वृत्तों को समर्पित है, तो चतुर्थ अध्याय

---

[1] काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्।। – सुवृत्ततिलक, विन्यास–३, पद्य–७

[2] शास्त्रं कुर्यात्प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम्।। – वही, विन्यास–३, पद्य–६

[3] इतिश्रीप्रकाशेन्द्रात्मजव्यासदासापरनामक श्री क्षेमेन्द्र–विरचिते सुवृत्ततिलके वृत्तविनियोग नाम तृतीयो विन्यास।

[4] सुवृत्ततिलक, विन्यास–३, पद्य–४०

[5] वृत्तरत्नाकर, अध्याय–१, पद्य–५

अर्द्धसम वृत्तों को, पञ्चम अध्याय में विषम वर्ण वृत्तों का विवरण है, तो छठें अध्याय में प्रस्तारादि षड्प्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया है। छन्द का लक्षण गणों के द्वारा किया गया है। गणनिर्देश के लिये वे पिङ्गल का ही अनुसरण करते हैं सम्पूर्ण ग्रन्थ सूत्रात्मक न होकर पद्यात्मक है। लक्षण–प्रणाली में जयदेव की प्रणाली को स्वीकार करते हुए अपनी कृति को विशिष्ट एवं लोकप्रिय होने को विवश किया। इसमें छन्द का लक्षण उसी छन्द में किया गया है।[1] अन्य शब्दों में, लक्षण और उदाहरण एक ही रूप में बताया गया है।[2] इस शैली से लक्षण में ही उदाहरण का भी समावेश हो जाता है, अन्यत्र उदाहरण ढूँढने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका परिमाण अत्यन्त अल्प होते हुए भी इसमें प्रायः सभी छन्दों का निरूपण प्राप्त होता है।

केदारभट्ट का भी जन्म स्थान एवं स्थितिकाल के विषय में प्रमाणों के अभाव में पता नहीं चल पाता। इन्होंने अपने वंश का परिचय दिया है कि ये कश्यप गोत्र में उत्पन्न हुए पिता का नाम पव्येक है।[3] इन्होनें अपने आपको शैव घोषित किया है। नाम व सम्प्रदाय से ऐसा प्रतीत होता है कि ये दक्षिण भारत के निवासी रहे होंगे।

केदारभट्ट के जन्म के समय के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि इन्होंने मङ्गलाचरण में विष्णु एवं शिव की वन्दना की है, जिससे इनका जन्म उस समय में हुआ होगा जब वैष्णव एवं शैव के मध्य संघर्ष चल रहा था।[4] इस दृष्टि से इनका जन्म समय पन्द्रहवीं शती माना जा सकता है,किन्तु यह युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वृत्तरत्नाकर की हस्तलिखित प्रति (जो जैसलमेर के पुस्तकालय में सुरक्षित है[5]) का लेखन काल ११३५ ई० है। इसके सर्वप्राचीन टीकाकार त्रिविक्रम भट्ट का

---

[1] तेनेद क्रियते छन्दो लक्ष्यलक्षणसंयुतम्, वृ० र० १/३

[2] प्रमाणिका छन्द का लक्षण प्रमाणिका छन्द में ही – प्रमाणिका जरौ लगौ।

[3] वृत्तरत्नाकर १/२, ६/१०

[4] धरानन्द शास्त्री कृत 'वृत्तरत्नाकर' की टीका की भूमिका से

[5] आचार्य बलदेव उपाध्यायकृत 'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास' से उद्धृत पृष्ठ ३०८

समय ११वी शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। अतः इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इनका स्थितिकाल ११वी शती का उत्तरार्द्ध हो सकता है।

वृत्तरत्नाकर की टीका--सम्पत्ति अत्यन्त समृद्ध है। इसकी अद्यावधि लगभग सोलह टीकायें हो चुकी हैं, जिनका प्रबन्ध विस्तार के भय से केवल नाम सङ्कीर्तन किया जा रहा है–

१. त्रिविक्रम भट्ट, ११वीं शती का उत्तरार्द्ध (वेलणकर के अनुसार ये सर्वप्राचीन टीकाकार हैं)।
२. सुल्हण– सुकवि हृदयानन्दिनी, १२४६ वि०स० (११८९ई०), पाण्डुलिपि संख्या ४८४(१८९५–१९०२) भण्डारकर शोध संस्थान, पूना।
३. सोमचन्द्र गणि– वि०सं० १३२९ (१२७२ ई०), पाण्डुलिपि संख्या ५५७(१८८४–८७) भण्डारकर शोध संस्थान, पूना।
४. रामचन्द्र विबुध – १४५५ ई०, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पञ्चम संस्करण, १९३६ ।
५. समय सुन्दरगणि– सुगमावृत्ति, १६३७ ई०, एच०डी० वेलणकर, जयदामन्, क्रिटिकल, पृ० ४३ एवं ५२ ।
६. नारायण भट्ट– (प्रकाशित निर्णय सागर बम्बई से) १६८० ई० एवं काशी संस्कृत सीरीज, १९२७ ई०।
७. भास्कर – सेतु, (प्रकाशित चौखम्भा काशी से) सं० १७३२, १६७५ ई०।
८. जनार्दन– भावार्थदीपिका – १७८९ ई० का हस्तलेख प्राप्त 'वृत्तप्रदीप' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना।
९. सदाशिवकृत टीका – पाण्डुलिपि संख्या १७६ (१९०२–०७) भण्डारकर शोध संस्थान, पूना।

१०. श्रीकण्ठकृत टीका– पाण्डुलिपि संख्या १०४ (१६१६–२४) भण्डारकर शोध संस्थान, पूना।

११. विश्वनाथकृत 'प्रभा' टीका – पाण्डुलिपि संख्या ६०८ (१८८७–६१) भण्डारकर शोध संस्थान, पूना।

१२. कृष्णसार (देवेन्द्र भारती) – वृत्तप्रकाशिका

१३. करुणाकरदास – कवि चिन्तामणि

१४. दिवाकर – वृत्तरत्नाकरादर्श

१५. धरानन्दशास्त्री – प्राञ्ज्ञतोषिणी, टीका, मोतीलाल बनारसीदास, १६७३ ई०।

१६. बलदेव उपाध्यायकृत टीका, शारदा शोध संस्थान, १६६८ ई०।

उल्लेख्य है कि वृन्दावन शोध संस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थागार में वृत्तरत्नाकर की ग्यारह पाण्डुलिपियॉ सङ्गृहीत है, जिनकी प्राप्ति संख्या इस प्रकार है–
३११४, ६२२३, २४, २५, ६६०६, १०, १२६८८, ८६, ६०, ६१, ६२।

छन्दोऽनुशासन – हेमचन्द्र :–

वृत्तरत्नाकर के पश्चाद्वर्ती कतिपय छन्दोग्रन्थों में प्राकृत छन्दःशास्त्र का प्रभाव देखा जाता है। उनमें सर्वप्रथम नाम आता है– छन्दोऽनुशासन का, जिसके प्रणेता हैं हेमचन्द्र। हेमचन्द्र का छन्दोऽनुशासन संस्कृत वृत्तों से अधिक प्राकृत वृत्तों पर प्रकाश डालता है। इसमें उनका मौलिक विवेचन प्रत्येक स्थल पर देखा जा सकता है। उन्होनें स्वयं इस पर 'स्वोपज्ञवृत्ति' लिखी है जो 'छन्दश्चूडामणि' के नाम से प्रसिद्ध है। पिङ्गल के छन्दःसूत्र की तरह यह भी अष्टध्यायी है। ग्रन्थ सूत्रात्मक है। प्रथम अध्याय में सञ्ज्ञाओं का विवेचन है, तो द्वितीय अध्याय में समवृत्तों का, तृतीय में अर्द्धसम, विषम–वैतालीय, मात्रासमक आदि का, चतुर्थ में आर्या–गलितक खञ्जक आदि का,

पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम में अपभ्रंश छन्दों का तथा अष्टम में प्रस्तार आदि षट्प्रत्ययों का विवरण है।

प्रत्येक अध्याय में सूत्रो की संख्या इस प्रकार है– १७, ४०१, ७३, ६१, ४२, ३२, ७३ तथा १७। उदाहरण के रूप मे संस्कृत एवं अपभ्रंश दोनों छन्दों में स्वरचित पद्य को ही दिया है।

हेमचन्द्र का स्थितिकाल ११वीं शती का अन्तिम चरण एवं १२वीं शती का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जाता है। इन्होनें वक्त्रप्रकरण में वृत्तरत्नाकर के 'श्रुतिसुखकृदियमपि जगति ञि जशिर् उपगतवति सति भवति खजा' की चर्चा की है, अतः ये केदारभट्ट से उत्तरकालिक सिद्ध होते हैं। हेमचन्द्र का जन्म गुजरात प्रदेश की अहमदाबाद जिले धुंधुकानगर में वि० सं० ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा को हुआ था। इनके पिता का नाम 'चलिग' तथा माता का नाम 'पाहिनी'[1] था। इनके विषय में ऐसा कहा जाता है कि ये अनहिलवाड (पाटन) के राजा जयसिंह के भतीजे कुमारपाल के आश्रित और गुरु थे।[2] छन्दोऽनुशासन के अतिरिक्त 'काव्यानुशासन' भी इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

वाणीभूषण – दामोदर मिश्र :–

प्राकृत छन्दः शास्त्र से प्रभावित एक दूसरा छन्दोग्रन्थ आता है, वह है दामोदर मिश्र प्रणीत–'वाणीभूषण'। यह दो परिच्छेदों में उपनिबद्ध है। प्रथम परिच्छेद मे मात्रावृत्तों तथा द्वितीय परिच्छेद में वर्णवृत्तों का निरूपण है। लक्षणों का गठन पारिभाषिक शब्दावली में दिया गया है। दामोदर के समय में संस्कृत के विद्वान् प्राकृत छन्दोग्रन्थों का परिशीलन नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने विशेषतः उन्हीं के

---

[1] चन्द्रप्रभसूरिकृत प्रभावकचरितम्, पद्य –११, तथा १२

[2] डॉ० नेमचन्द्रशास्त्री ,आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन पृ०६

अध्ययनार्थ उसकी रचना की है।[1] वस्तुतः यह ग्रन्थ 'प्राकृत–पैङ्गल' का संस्कृत में अनुकरणमात्र है। इसमें कुल ३५० पद्य हैं, जिनमें ४३ मात्रिक तथा १११ वार्णिक वृत्तों के लक्षण व उदाहरण हैं। दामोदर मिश्र ने वाणी भूषण में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के छन्दों को मात्रावृत्त प्रकरण में संस्कृत में लक्षित कर उनका संस्कृतीकरण कर उदाहरण संस्कृत पद्यों में ही दिये हैं, जिनका प्रस्तुत प्रबन्ध के सप्तम अध्याय में आधुनिक संस्कृत गीतकाव्य एवं छन्द शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन किया जायेगा।

दामोदर मिश्र के व्यक्तित्व के विषय में यह कहा जाता है कि ये मैथिल ब्राह्मण थे जो मिथिला के राजा कीर्तिसिंह के दरबार से सम्बद्ध थे। यही कीर्तिसिंह विद्यापति के अवहट्ट भाषा में निबद्ध 'कीर्तिलता' के नायक हैं। विद्यापति का समय १५वीं शती माना जाता है। अतः दामोदर मिश्र इन्हीं के समकालिक सिद्ध होते हैं।

छन्दोमञ्जरी – गङ्गादास : –

छन्दों की मञ्जरीभूता यह छन्दोमञ्जरी अपनी कोमलकान्त दृष्टान्तावली व लक्षणावली के कारण वृत्तरत्नाकर के बाद सबसे अधिक लोकप्रियता को प्राप्त हुई, जो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ साहित्यदर्पण के समान है तथा जिसके प्रणेता हैं– गङ्गादास, जो विश्वनाथ की तरह आचार्य भी हैं और कवि भी। छन्दोमञ्जरी षष्ठ स्तबकों में विभक्त है, जिसमें प्रथम स्तबक में छन्दःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख है, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ में क्रमशः सम, अर्द्धसम तथा विषम वृत्तों का निरूपण है, पञ्चम स्तबक में मात्रावृत्तों का विवरण है तथा षष्ठ स्तबक गद्यप्रभेदों के लिये समर्पित है। वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन के

[1] अलसधियः प्राकृतमधि सुधियः केचिद् भवन्तीह। कृतिरेषा मम तेषामातनुतादीष दपि तोषम्।
– वाणी भूषण१/३

हस्तलिखित ग्रन्थागार मे छन्दोमञ्जरी की उन्नीस पाण्डुलिपियॉ सङ्गृहीत हैं, जिनकी प्राप्ति संख्या इस प्रकार है–

३०६८, ३०६६, ३१००, ०१, ०२, ०३, ०४, ०५, ०६, ०७, ०८, ०६, ६२१७, १८, १६, २०, २१, ६६०७, ०८।

गड्गादास के जीवन वृत्त के विषय में केवल इतना ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम वैद्यगोपालदास तथा माता का संतोषा देवी था।[1] ग्रन्थ के अन्त में[2] इनकी अन्य कृतियाँ ज्ञात होती है– अच्युतचरितम्, कंसारिशतकम्, तथा दिनेश शतकम्। इनके पिता श्री वैद्यगोपालदास भी एक कवि थे, जिनकी रचना 'पारिजातहरण– नाटक का उल्लेख मिलता है।[3]

अपने देशकाल के विषय में इन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। सम्भवतः ये उत्कल निवासी थे। वृत्तरत्नाकरादर्श नाम्नी वृत्तरत्नाकर की टीका, जो १६८४ ई० की है, में छन्दोमञ्जरी का नामोल्लेख है। इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन में इसकी एक प्रति विद्यमान है।[4] उज्ज्वल नीलमणि में रूप गोस्वामी, जिनका स्थितिकाल १४६० ई० – १५६२ ई० है, ने छन्दोमञ्जरी को उद्धृत किया है। अतः इसके आधार पर आचार्य गड्गादास का स्थिति काल पन्द्रहवीं शती के आस पास ठहरता है।

वृत्तरत्नावली – वेंकटेश :–

वृत्तरत्नावली के रचयिता श्रीवेंकटेश हैं। इस पर अज्ञातनामा लेखक की संस्कृत व्याख्या भी मिलती है।[5] वृत्तरत्नावली में केवल ६६ पद्य हैं, जिनमें ६२ छन्दों

---

[1] छन्दोमञ्जरी, प्रथम स्तबक /१

[2] छन्दोमञ्जरी, षष्ठ स्तबक /६

[3] मत्पितुः पारिजातहरणनाटके – छन्दोमञ्जरी, प्रथम स्तबक/११

[4] बलदेव उपध्यायकृत संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ३१४

[5] अड्यार पुस्तकालय के बुलेटिन, वोल्यूम–१५ से १७ के पम्फलेट सीरीज नं० २७ में, १६५२ में पुनः प्रकाशित व्याख्यासहित, सम्पा० –एच०जी०नरहरि।

का वर्णन है। प्रत्येक पद्य लक्षण तथा उदाहरण देने के साथ–साथ अपने में एक भक्तिपूर्ण काव्य हैं, जो विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का प्रार्थनात्मक वर्णन प्रस्तुत करता है। इसमें केवल उन्हीं छन्दों को लक्षित किया गया है, जो कवियों द्वारा काव्यों में प्रयुक्त हो चुके हैं तथा छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के द्वारा लक्षित हो चुके हैं।

आचार्य वेंकटेश के पिता का नाम अवधान सरस्वती था, जो तमिलनाडु में तुण्डीरमण्डल के तोण्डमण्डल तथा मक्षिकारण्य के त्रिवलोर के पास इवकादु नामक गाँव के रहने वाले थे।[1] अवधान सरस्वती की एक रचना का विवरण मिलता है, जिसका नाम 'वेदान्तशतश्लोकी' है।[2] सूर्यपण्डित ने उस पर एक व्याख्या लिखी है। भास्करकृत बीजगणित पर भी सूर्यपण्डित ने भाष्य लिखा था, जिसमें उन्होंने अपने समय–शक सम्वत् १४६० यानि १५३८ ई० तथा भाष्य लिखते समय अपनी अवस्था का उल्लेख किया है।[3] स्पष्ट है कि सूर्यपण्डित का जन्म शक सम्वत् १४३१ यानि १५०६ ई० में हुआ था। अतः अवधान सरस्वती का समय सूर्यपण्डित के कुछ पूर्व अवश्य ठहरता है। यदि अवधान को सूर्यपण्डित का समकालिक भी मान लें, तो उनके पुत्र वेंकटेश का समय १५५० ई० के लगभग माना जा सकता है।

वृत्तप्रत्ययकौमुदी – रामचरण शर्मसूरि :–

लघुकाय छन्दोग्रन्थ वृत्तप्रत्ययकौमुदी[4] रामचरण शर्मसूरि के मस्तिष्क की उपज है। इसमें दो प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश प्रत्ययादि छन्दःशास्त्रीय गणित का विवेचन है,

---

[1] वृत्तरत्नावली, परिचय –३, पृष्ठ –१४

[2] आफरेट कैटेलाग्स कैटेलागोरम, १३३ए०, ६०७ए०

[3] षष्ठिशक्रगणिते शके कृतं भाष्यमिन्दुगुणवत्सरे।
पञ्चविंशतिशतान्यनुष्टुभां ग्रन्थसम्मितिहिरास्ति केवलम्।। – वृत्तरत्नावली –परिचय– ३, पृ०– १२

[4] निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से सं० १६५६ में प्रकाशित।

जबकि दूसरे प्रकाश में वर्णवृत्त के केवल नाम गिनाये गये हैं इसका समय सं० १६१० है जो इसके अन्त में दिया गया है।

छन्दोऽङकुर – गङ्गासहाय :–

संस्कृत–छन्दोग्रन्थ 'छन्दोऽडकुर'[1] गङ्गासहाय द्वारा लिखित है। इसमें प्रस्तारादि का विवेचन नहीं है। छन्दःशास्त्रीय पारिभाषिक सञ्ज्ञाओं का विवरण है। तत्पश्चात् वर्ण वृत्तों का निरूपण है। ग्रन्थ के अन्त में आर्या तथा वैतालीय नामक मात्रिक छन्दों की सङ्क्षेप में चर्चा है। ग्रन्थ का रचना–काल सं० १६४० के लगभग निश्चित होता है।

प्रस्तारादिरत्नाकर – अमरदास :–

केवल प्रस्तारादि छन्दःशास्त्रीय गणित का विवेचन करने वाला छन्दोग्रन्थ 'प्रस्तारादिरत्नाकर'[2] अमरदास की छन्दोकृति है। अधिकांशतः अनुष्टुप् छन्द में रचित इस ग्रन्थ में कुल पैंतीस पद्य हैं। ग्रन्थान्त में दिया गया इस ग्रन्थ का रचनाकाल सम्वत् १६५१ है।

वृत्तमौक्तिक – भट्ट चन्द्रशेखर :–

संस्कृत–छन्दों के साथ–साथ हिन्दी छन्दों का भी निरूपण करने वाला छन्दोग्रन्थ 'वृत्तमौक्तिक' भट्ट चन्द्रशेखर[3] द्वारा प्रणीत है। इन्होंने इसकी रचना कार्तिकी पूर्णिमा वि० सं० १६७६ या १६२० ई० में की थी। ग्रन्थकार की अकाल मृत्यु

---

[1] निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से सं० १६६६ में प्रकाशित।

[2] श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १६६६ में प्रकाशित

[3] श्री लक्ष्मीनाथभट्टस्य पितुर्नत्वा पदाम्बुजम्।
श्री चन्द्रशेखर कविरतनुते वृत्तमौक्तिकम्।।
– वृत्तमौक्तिक, गाथा प्रकरण, ३

हो जाने के कारण छन्दाग्रन्थ की पूर्ति लेखक के पिता लक्ष्मीनाथ भट्ट,[1] जिन्होंने 'प्राकृत पैङ्गल' पर 'पिङ्गलप्रदीप' नामक व्याख्या लिखी, ने की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि छन्दोज्ञान इन्हें विरासत में मिला था। ग्रन्थकार ने वृत्तमौक्तिक की रचना करने से पहले 'प्राकृत पैंगल' के प्रथम परिच्छेद पर 'उद्योत' नाम की टीका लिखी। वृत्तमौक्तिक छन्द शास्त्र का एक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है। यह अनेक वैशिष्ट्य से विशिष्ट है। प्रकृत ग्रन्थ के दो खण्ड हैं जिसके प्रथम खण्ड में मात्रावृत्त तथा द्वितीय खण्ड में वर्णवृत्त का विवेचन है। मात्रावृत्तों में हिन्दी छन्दों का विवरण है, जो अपनी दृष्टि से नवीन है, यथा सवैया प्रकरण में इसके नाना प्रकारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय खण्ड के नवम तथा दशम प्रकरण में विरुदावली तथा खण्डावली का लक्षण दिया गया है।

छन्दःकौस्तुभ – राधा दामोदर :–

छन्दःकौस्तुभ संस्कृत भाषा में लिखा गया लक्षणपरक ग्रन्थ है। छन्दःशास्त्र के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना गङ्गादास कृत छन्दोमञ्जरी के आनुगत्य पर हुई है। किन्तु ग्रन्थकार की अपनी कुछ मौलिक विशेषतायें हैं। इसमें नौ प्रभायें हैं। लक्षणों में ही उदाहरणों का समावेश हुआ है, उदाहरण अलग से नहीं दिये गये हैं। इसमें छन्दों की संख्या कुल २६४ है, जिसमें वार्णिक छन्द २२३ तथा मात्रिक छन्द ४१ है। बलदेव विद्याभूषण ने इस पर भाष्य लिखा है। इस ग्रन्थ की प्रथम प्रभा में छन्दःशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, तो दूसरी में समवर्णवृत्त, तीसरी में अर्द्धसमवर्णवृत्त, चौथी में विषमवर्णवृत्त, पाँचवी में अनुष्टुप् प्रकरण, छठवीं में मात्रिक

---

[1] याते दिवं सुतनये विनयोपपन्ने श्री चन्द्रशेखरकवौ किल तत्प्रबन्धः।
विच्छेदमाप भुवि तद्वचसैव सार्द्धं पूर्णीकृतश्च स हि जीवनहेतवेऽस्य।।
श्रीवृत्तमौक्तिकमिदं लक्ष्मीनाथेन पूरितं यत्नात्। – वृत्तमौक्तिक पृ० २६१

छन्द, सातवीं में मात्रिक समछन्द, आठवीं में वार्णिक प्रस्तार तथा नौवीं प्रभा में मात्रिक प्रस्तार का विवेचन है।

वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन के हस्तलिखित ग्रन्थागार में सङ्गृहीत छन्द कौस्तुभ की चार पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, जिनकी प्राप्ति संख्या इस प्रकार है– २१, १४२३, १०५५०, ११७०३।

छन्दःकौस्तुभ के लेखक राधादामोदर के जीवन से सम्बन्धित कुछ विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। ग्रन्थ के प्रारम्भ में बलदेव विद्याभूषण ने टीका में उनका केवल सामान्य परिचय दिया है, जिसके आधार पर ये कान्यकुब्ज परिवार में उत्पन्न हुए थे। इन्हें अनेक शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था और इनकी गणना विशिष्ट विद्वानों में की जाती थी।[1]

ग्रन्थकार ने छन्दःकौस्तुभ का उपसंहार करते हुए अपने सम्बन्ध में किञ्चित् प्रकाश डाला है– ब्राह्मण कुल के तिलक स्वरूप हरि के प्रिय भक्त श्रीमान् राधा दामोदर ने स्वर्णिम धागों से इस छन्दःकौस्तुभ मणि को पिरोया।[2]

राधादामोदर का स्थिति काल निर्धारित करने से पूर्व निम्नलिखित तथ्यों का अवलोकन करना आवश्यक है–

१. 'छन्दःकौस्तुभ' ग्रन्थ की पुष्पिका में लिपिकार ने ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने का समय दिया है–

"सम्वत् १८२७ आश्विन शुक्ला १०, शनिवासरे। शुभं भवतु। श्रीरस्तु।"

किन्तु लिपिकार का नामोल्लेख नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थ–रचना इससे बहुत पहले की है।

---

[1] निखिल शास्त्रार्थश्छन्दो विद्वद्वृन्दवन्द्यः श्रीराधादामोदराभिख्य कान्यकुब्जविप्रवंशावतंसो महत्तमः कविश्छन्दः कौस्तुभं नाम छन्द. शास्त्र प्रणयन् सर्वछन्दः प्रगेयचरितं श्रीकृष्णं प्रणमति छन्दोभिरिति
– प्रभा–प्रथमा, कारिका–१ की टीका

[2] द्विजकुलतिलकः श्रीमान्राधादामोदरो हरेः प्रेष्ठः।
स्वर्णैः सूत्रैर्ग्रथितं छन्दःकौस्तुभमिभं व्यतनोत्।।

२. राधा दामोदर विश्वनाथ चक्रवर्ती के समकालिक हैं, अतः इनका समय निर्धारित करने से पूर्व विश्वनाथ चक्रवर्ती का समय ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है। श्री प्रभु दयाल मीतल[1] ने विश्वनाथ चक्रवर्ती को १७वीं शती के अन्त या १८वीं शती के आरम्भ में बङ्गाल के मुर्शिदाबाद जिले के देवग्राम नामक स्थान में उत्पन्न होना बतलाया है। ये छन्दःकौस्तुभ के भाष्यकार बलदेव विद्याभूषण के शिक्षा–गुरु थे।

३. डॉ० वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी विश्वनाथ चक्रवर्ती का स्थितिकाल वि० सं० १७०० मानते हैं। [2]

४. डॉ० (श्रीमती) सुरेश नारंग राधा दामोदर की उपस्थिति १६वीं शती के अन्त में तथा १७वीं शती के पूर्वार्द्ध में मानती हैं।[3] बलदेव विद्याभूषण का निश्चित जन्म सम्वत् अज्ञात है, किन्तु इतना तो निश्चित है कि वे विक्रम की १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।

डॉ० एम० कृष्णमाचारी बलदेव विद्याभूषण की उपस्थिति १८वीं शती में मानते हैं।[4]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि राधा दामोदर का स्थिति काल वि० की १७वीं शती का आरम्भिक काल मानना उपयुक्त होगा। अनुमान है कि इनका देहावसान १७वीं शती के अन्त तथा १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ होगा।

छन्दःकोश – आचार्य रत्नशेखर :–

छन्दःकोश नामक छन्दोग्रन्थ छन्दःशास्त्रीय आचार्य रत्नशेखर की प्रतिभा की उपज है, जो वज्रसेन के शिष्य तथा नागपुरियातपागच्छ के हेमतिलक सूरि के उत्तराधिकारी थे। इनकी अन्य दो रचनायें भी हैं।

---

[1] "ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ०३३८–३३६

[2] श्रीमद्भागवत् के टीकाकार, पृ० २२४–२२५

[3] The Vaishnava Philosophy According to Baldev Vidhya Bhushsan Page-2

[4] History of Classical Sanskrit Literature, Page-785

१. श्रीपालचरित

२. गुणस्थानकुमारोह।[1]

छन्दःकोश में कुल ७४ पद्य हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में लघु–गुरु वर्ण तथा अष्टगणों का विवेचन है, तत्पश्चात् वार्णिक छन्दों का विवेचन हुआ है और फिर मात्रिक छन्दों का मात्रावृत्तों के अन्तर्गत लेखक ने कुछ ऐसे छन्दों को स्थान दिया है, जो स्वरूपतः वर्णवृत्त हैं, वे हैं– पञ्चचामर, नाराच, दुर्मिला, मेहाणी तथा प्रमाणिका। अन्त मे गाथाओं तथा उसके भेदों को बतलाते हुए संख्या, लघु–गुरु–क्रिया–प्रत्ययों की चर्चा की है।

छन्दःकोश का प्रकाशन तीन हस्तलेखों के आधार पर एच० डी० वेलणकर के सम्पादन में बम्बई विश्वविद्यालय पत्रिका में हुआ। ये हस्तलेख पूना के भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्राप्त हुये हैं और इसमें चण्डकीर्ति की टिप्पणी है।

वृत्तमुक्तावली – कृष्ण भट्ट :–

तीन गुम्फों में विभाजित 'वृत्तमुक्तावली' तैलंगवंशीय कृष्णभट्ट द्वारा प्रणीत है। कृष्ण भट्ट का समय १८वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। 'वृत्तमुक्तावली' की रचना सम्वत् १७८८ से सम्वत् १७६६ के मध्य हुई थी। इसके प्रथम गुम्फ में वैदिक छन्दों, द्वितीय गुम्फ में मात्रावृत्तों जिसमें व्रजभाषा हिन्दी के कई छन्दों का संस्कृतीकरण किया गया है तथा तृतीय गुम्फ में वार्णिक छन्दों का विवेचन है। छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ लेखन में लम्बे समय से वैदिक छन्द ने अपना स्थान खो सा दिया था, किन्तु प्रकृत ग्रन्थ में पुनः इस ग्रन्थ में अपना स्थान बना लिया। इसी दृष्टि से यह ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी उपयोगी है।

---

[1] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० –५८

वाग्वल्लभ – दु:खभञ्जन कवि :–

उदाहरणविहीन छन्दोग्रन्थ 'वाग्वल्लभः' काशी के महान् ज्योतिर्विद एवं तान्त्रिक दु:खभञ्जन शर्मा 'कवि' की प्रतिभा का परिणाम है। यह छन्दःशास्त्र का विशालतम छन्दःग्रन्थ है। इसमें वृत्तों के लक्षण दिये गये हैं, उदाहरण नहीं। इसमें १५४० छन्दों का वर्णन है। प्रारम्भ में कवि ने छन्दःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों एवं प्रस्तारादि षट्प्रत्ययों का विस्तार से विवेचन है। ग्रन्थकार ने अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ में प्रस्तार का आधार लेकर शताधिक नवीन छन्दों का निर्माण भी किया है। छन्दों का लक्षण लक्ष्य–लक्षण शैली में है। प्रत्येक वार्णिक वृत्त प्रस्तार संख्या के क्रम से दिया गया है। ग्रन्थ में लक्षित १५४० छन्दों में से १०३१ छन्द दु:खभञ्जन के स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं, जो लौकिक छन्दों में अपना योगदान देते हैं।

कवि का स्थिति–काल बीसवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनके पितामह का नाम[1] श्री प्रताप शर्मा, पिता का नाम श्री चूड़ामणि शर्मा था। ग्रन्थ पर ग्रन्थकार के पुत्र चक्रवर्ती म०म०देवीप्रसाद कवि ने ही 'वरवर्णिनी' नामक वाग्वल्लभ के अनुरूप टीका लिखी।

छन्दस्कलावती – डॉ० राम किशोर मिश्र :–

छन्दस्कलावती डॉ० रामकिशोर मिश्र की प्रतिभाप्रसूता छन्दःशास्त्रीय मौलिक रचना है। इसमें तीन भाग हैं। प्रथम भाग वृत्तानुसन्धान है। इस भाग में १४ वर्णवृत्त तथा ६२ मात्रावृत्त हैं। द्वितीय भाग का नाम छन्दोऽनुसन्धान है। इसमें २५ वर्णवृत्त तथा छः मात्रावृत्त है। तृतीय भाग छान्दसपरम्परा को समर्पित है। जिसमें भरत से लेकर दीनेशचन्द्र दत्त प्रभृति छन्दःशास्त्रकारों के योगदानों का उल्लेख है।

---

[1] वाग्वल्लभः – अथ कविवंशवर्णनम् में

डॉ० रामकिशोर मिश्र का जन्म उत्तर प्रदेश के एटा जनपद में शूकर क्षेत्र में स्थित 'सोरो' नामक नगर में एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में २५ फरवरी १९३९ को हुआ था। आपके जन्म का नाम श्री लोकनाथ मिश्र था। आपका वर्तमान नाम आपकी बुआ 'गोपी' ने रखा, ऐसा आपने अपने परिचय में दिया है।[1] आपके पिता का नाम 'श्री होती लाल मिश्र' तथा माता का नाम 'कलावती' था। पाँच वर्ष की अवस्था में ही आपकी माता का देहावसान हो गया।

आपकी सम्पूर्ण शिक्षा संस्कृत माध्यम में हुई। सन् १९६१–६३ के मध्य उच्च–शिक्षा ग्रहण कर आपने वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से आचार्य की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् आगरा विश्वविद्यालय से १९६६ में परास्नातक की भी परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी समय आपका विवाह संस्कार बुलन्दशहर के वीरखेड़ा नामक नगर में श्रीमती देवी के साथ सम्पन्न हुआ। सम्प्रति मेरठ जनपद में स्थित खेकड़ा में महामनामालवीय महाविद्यालय में उपाचार्य के पद को अलङ्कृत करते हुए अपने ज्ञान के माध्यम से संस्कृत साहित्य का प्रचार–प्रसार कर रहे हैं ।

आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। आपने काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक आदि संस्कृत साहित्य की अनेक सर्जन–विधा को अपनी लेखनी से सजाया तथा सँवारा है। आपकी कृतियों में दो कृतियाँ छन्दःशास्त्रीय भी हैं। पहली है– असीम प्रतिभा, जिसमें वैदिक तथा लौकिक छान्दस–ग्रन्थ–परम्परा का विवेचन है तथा दूसरी 'छन्दस्कलावती' जिसके विषय में चर्चा की जा चुकी है। डॉ० मिश्र की इस कृति में केवल नवीन छन्दों की ही उद्भावना की गयी है। उन्होनें सर्वथा नये छन्दों के ही नामकरण एवं लक्षण किये हैं।

---

[1] असीम प्रतिभा, पृ०–१५६

अब तक विवेचित छन्दोग्रन्थ एवं छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के अतिरिक्त प्राकृत छन्दोप्रधान ग्रन्थों की लम्बी श्रृङ्खला है, किन्तु प्रबन्ध विस्तार के भय से अपेक्षित होते हुए भी उनका विवरण नहीं दिया जा रहा है।

छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों का विभाजन :-

अब तक विवेचित छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों के स्वरूप की ओर दृष्टिपात करें, तो यह गोचर होता है कि इन ग्रन्थों को लक्षण–निर्देश–शैली तथा अध्याय–विभाजन आदि की दृष्टि से कई वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। सर्वप्रथम स्थूल दृष्टि से छन्द को लक्षित करने की पाँच शैलियाँ छन्दोग्रन्थों में पाते हैं –

१. एक सूत्रात्मक   २. पौराणिक   ३. वृत्तानुसारिणी

४. अक्षरानुसारिणी तथा   ५. मिश्रित शैली

१. **सूत्रात्मक शैली** – इस प्रकार के ग्रन्थों में सूत्र रूप में ही छन्द का नाम व गणों की संख्या दिखायी गयी है, यथा– पिङ्गल का छन्दःशास्त्र।

२. **पौराणिक शैली** – इन ग्रन्थों में छन्दों का नाम निर्देश व उसका लक्षण 'अनुष्टुप्' वृत्त में पुराणों के समान किया गया है। इसीलिये छन्दः विवेचन की इस शैली को पौराणिक शैली कहना उपयुक्त है, यथा– अग्निपुराण, नाट्यशास्त्र आदि ।

३. **वृत्तात्मक शैली** – इस शैली के अन्तर्गत वृत्तों के नाम निर्देश व लक्षण उसी वृत्त में किया गया है, यथा –छन्दोमञ्जरी, वृत्तरत्नाकर आदि।

४. **अक्षरात्मक शैली** – इसमें अक्षरों को प्रधान मानकर अर्थात् किस वृत्त मे कितने अक्षर लघु और कितने गुरु हैं, इसे आधार मानकर लक्षणों का कथन उसी छन्द में किया गया है, यथा – कालिदास का श्रुतबोध।

५. **मिश्रित शैली** – शैली का एक प्रकार ऐसा भी देखने को मिलता है, जिसमें वारणिक छन्दों का सूत्र–शैली में तथा मात्रिक छन्दों का वृत्तात्मक शैली में लक्षण निर्देश किया गया है, यथा आचार्य रामकिशोर मिश्र कृत 'छन्दस्कलावती'।

सूक्ष्म रूप से लक्षण–निर्देश की दो शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

१. **गण–निर्देश शैली** – गण–निर्देश शैली के अन्तर्गत छन्दों के लक्षण–प्रदर्शन में गणों (वार्णिक एवं मात्रिक गण) का सहारा लिया गया है, जिनमें पिङ्गलकृत 'छन्दःशास्त्र', जयदेवकृत 'जयदेवच्छन्द', जयकीर्तिकृत 'छन्दोऽनुशासन', केदारभट्टकृत 'वृत्तरत्नाकर', हेमचन्द्रकृत 'छन्दोऽनुशासन', क्षेमेन्द्रकृत 'सुवृत्ततिलक' तथा गङ्गादासकृत 'छन्दोमञ्जरी' आदि प्रमुख छन्दोग्रन्थ् हैं।

छन्दों के लक्षण–निरूपण में गण–निर्देश–शैली ही अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता को प्राप्त हुई। गणों के प्रयोग से लक्षण में स्मरणीयता तथा सङ्क्षिप्तता का समावेश होना ही इस शैली के लोकप्रिय होने में कारण दिखायी देता है। मुद्रण के अभाव में सूत्रात्मक शैली में लिखे गये ग्रन्थों में गण–प्रयोग की आवश्यकता थी। इस शैली के विरोध में यह कहा जा सकता है कि गण–प्रयोग के कारण लक्षण में अतिपारिभाषिकता का दोष आ जाता है, जो सामान्य पाठकों के लिये कठिन सिद्ध हो सकता है। किन्तु अधिकाँश छन्दोलक्षण–ग्रन्थों में गण–प्रयोग की प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि इस शैली में निबद्ध ग्रन्थ छन्दों के विषय में भली–भाँति या सम्यक् ज्ञान की इच्छा रखने वालों के लिए ही प्रणीत किये गये हैं।

२. **गणविहीन–शैली** :– द्वितीय शैली के अन्तर्गत छन्दों के लक्षण–प्रदर्शन में गणों का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि केवल पादगत अक्षरसंख्या अथवा मात्रासंख्या, पाद में निश्चित लघु–गुरु के क्रम तथा यति आदि के उल्लेख हैं।

इस शैली का प्रतिनिधिभूत एक ही ग्रन्थ है और वह है– कालिदासकृत 'श्रुतबोध'। गण–प्रयोग से होने वाले अतिपारिभाषिकता के दोष से बचने एवं सामान्यजनों के छन्दोबोध के लिए ही ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है, ऐसा ग्रन्थ की विवेचन–शैली से अनुमान किया जा सकता है।

अध्याय आदि में विभाजन की दृष्टि से छन्दोंग्रन्थों को दो भाँगों में बाँट सकते हैं–

१. कपिपय छन्दोग्रन्थों का अध्यायों, विन्यासों, अधिकारों, परिच्छेदों, स्तबकों आदि में विभाजन किया गया है, यथा– छन्दःशास्त्र आठ अध्यायों, जयदेवच्छन्द आठ अध्यायों, जयकीर्तिकृत छन्दोऽनुशासन आठ अधिकारों, सुवृत्ततिलक तीन विन्यासों, वृत्तरत्नाकर छः अध्यायों, हेमचन्द्रकृत छन्दोऽनुशासन आठ अध्यायों, वाणीभूषण दो परिच्छेदों, छन्दोमञ्जरी छः स्तबकों तथा छन्दस्कलावती तीन भागों आदि में विभाजित किये गये हैं।

२. कुछ छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ अध्याय आदि संख्या रूप से विभक्त न होकर लगातार छन्दों का विवेचन करते चलते हैं। इनमें प्रमुख ग्रन्थ हैं– दुःखभञ्जन कविकृत 'वाग्वल्लभ', 'श्रुतबोध', गङ्गासहायकृत 'छन्दोऽङ्कुर' तथा अमरदासकृत 'प्रस्तारादिरत्नाकर'। ध्यातव्य है कि इस श्रेणी मे आने वाले छन्दोग्रन्थ संख्या में बहुत कम हैं।

विषय–क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से इन छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों के छः प्रकार हो सकते हैं–

१. प्रथम प्रकार के वे ग्रन्थ हैं, जिनमें छन्दों के लक्षण एवं उदाहरण के साथ–साथ छन्दःशास्त्रीय गणित षड्प्रत्ययों का विवेचन किया गया है, यथा– 'छन्दःशास्त्र', 'जयदेवच्छन्द', जयकीर्ति द्वारा लिखित 'छन्दोऽनुशासन' तथा केदारभट्टकृत 'वृत्तरत्नाकर' इस प्रकार के ग्रन्थों की श्रेणी में आते हैं।

२. द्वितीय प्रकार मे वे ग्रन्थ आते हैं, जिनमे छन्दों के लक्षणों एवं उदाहरणों का ही निवेचन है, षड्प्रत्ययों का नहीं, उन ग्रन्थों में 'श्रुतबोध', दामोदरमिश्रकृत 'वाणीभूषण', 'छन्दोमञ्जरी', 'छन्दोऽङ्कुर' तथा 'छन्दस्कलावती' प्रमुख हैं।

३. जिन ग्रन्थों में केवल षड्प्रत्ययों का विवेचन है, वे तृतीय प्रकार के ग्रन्थों में आते हैं। इनमें अमरदासकृत 'प्रस्तारादिरत्नाकर' ही एकमात्र समुपलब्ध ग्रन्थ है।

४. चतुर्थ प्रकार उन ग्रन्थों का है, जो केवल छन्द के लक्षणों को ही प्रस्तुत करता है, उदाहरणों को नहीं। इस श्रेणी में दुःखभञ्जन कवि का विशालकाय छन्दोग्रन्थ है, जा 'वृत्तरत्नाकर' की अनुकृति पर लक्ष्य–लक्षण शैली में लिखा गया है, किन्तु उदाहरण अलग से नहीं दिया गया है।

५. पञ्चम प्रकार के वे ग्रन्थ हैं, जो छन्दःशास्त्र से सम्बद्ध किन्तु छन्दों के लक्षणोदाहरण का विवेचन करने के स्थान पर छन्दों का रस एवं भाव के साथ छन्दों के सम्बन्धों की चर्चा करते हैं, यथा– क्षेमेन्द्रकृत 'सुवृत्ततिलक'।

६. छन्दोभेद की दृष्टि से विवेचित ग्रन्थों के षष्ठ प्रकार में रखा जा सकता है। इन्हें दो भाँगों मे विभक्त करते हैं।

अ– कतिपय छन्दोग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का निरूपण किया गया है, यथा– 'छन्दःशास्त्र', 'जयदेवच्छन्दः' तथा श्रीकृष्ण भट्टकृत 'वृत्तमुक्तावली'।

ब– केवल लौकिक छन्दों का निरूपण करने वाले ग्रन्थ द्वितीय कोटि में आते हैं, यथा– 'वृत्तरत्नाकर' आदि।

निष्कर्ष :–

छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों की विकास–परम्परा एवं उनके कलेवर की दृष्टि से किये गये विभाजन आदि का विश्लेषण करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में छन्दःशास्त्रीय विवेचन की परम्परा पिङ्गल के छन्दःशास्त्र से प्रवर्तित हुई दिखायी पड़ती है, जिसमें वैदिक और लौकिक (वार्णिक तथा मात्रिक छन्द) दोनों प्रकार क छन्द लक्षित हुए। साथ ही षड्प्रत्ययों का विवेचन तथा वार्णिक

एवं मात्रिक छन्दों के सम, अर्द्धसम एवं विषम नामक उपभेदों की प्रवृत्तियाँ भी इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से प्राप्त होती है। परवर्ती जितने भी छन्दःशास्त्रीय आचार्य हुए हैं, सभी ने आचार्य पिङ्गल के छन्दःशास्त्र को ही उपजीव्य के रूप में स्वीकार किया है। कालिदास के 'श्रुतबोध' में 'वृत्तरत्नाकर' आदि की लक्ष्य–लक्षण–शैली से हटकर पद्यात्मक शैली का दर्शन सर्वप्रथम पाते हैं। इसमें लक्षण–विधान में गण–प्रयोग को स्थान नहीं दिया गया है। क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक में छन्द का सम्बन्ध काव्यवस्तु, रस एवं भाव से स्थापित करने का प्रयास किया गया है। विशिष्ट कवियों की विशेष छन्दों के प्रति रूचि का भी सङ्केत किया गया है। छन्द का सम्बन्ध काव्यवस्तु आदि के साथ क्या है, इसके विवेचन की दिशा में अब तक उपलब्ध ग्रन्थों में 'सुवृत्ततिलक' प्रथम एव अन्तिम हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विविध दृष्टि से किये गये ये विभाजन छन्दःशास्त्र के क्षेत्र में उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति की ओर सङ्केत करते हैं, जिसकी परम्परा आचार्य पिङ्गल से लेकर अद्यावधि आचार्य रामकिशोर मिश्र तक अविरल रूप से प्रवर्तित होती आ रही है।

उपर्युक्त छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों के विवेचनों से स्पष्ट हैकि छन्दःशास्त्र की अविरल धारा प्रवाहित होती दिखायी पड़ती है। पिङ्गल मुनि के पूर्वकालिक छन्दः शास्त्रीय विवेचन से उत्तरकालिक बीसवीं शताब्दी तक निरन्तर छन्दः ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा। प्रभूत साहित्य से इसके महत्व का पता चलता है। आज भी संस्कृत रचना विविध छन्दों में हो रही है, जो पारम्परिक छन्दों से हटकर है, जिनके नामकरण के साथ–साथ लक्षण–ग्रन्थ लिखे जाने की आवश्यकता है। इस दिशा में सम्प्रति डॉ० रामकिशोर मिश्र का प्रयास सराहनीय है।

द्वितीय अध्याय

छन्दःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द

द्वितीय अध्याय
छन्दः शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द

संस्कृत–छन्दोविधान एक ऐसा तकनीकी विषय है, जिसकी सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक सिद्धि करने के लिये एक विशेष प्रकार की शब्दावली की चर्चा करना आवश्यक है। छन्दः सिद्धि के लिये इन अनेक पारिभाषिक शब्दों से होकर गुजरना पड़ता है। अतः छन्द के विवेचन के परिप्रेक्ष्य में इन शब्दावली या नामावली का परिज्ञान या पर्यालोचन आवश्यक है। इस क्रम में प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में उन सब पारिभाषिक शब्दों का यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

वर्ण एवं मात्रा

छन्द के स्वरूपाधायक तत्त्वों में प्रथम तत्त्व है– वर्ण (अक्षर) एवं मात्रा। 'वर्ण' शब्द अनेकार्थक है, किन्तु छन्द की विवेचना करते समय यह अर्थ विशेष की सीमा में बँध जाता है। व्याकरण तथा भाषा विज्ञान में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग मूल ध्वनि के अर्थ में करते हैं, जिसके टुकड़े न हो सकें, यथा– अ, इ, क, ख आदि। वर्ण के दो भेद हैं– स्वर तथा व्यञ्जन। छन्दःशास्त्र में अ, आ अथवा क, ख आदि एक–एक वर्ण हैं। यहाँ तक कि संयुक्ताक्षर को भी एक ही वर्ण माना जाता है। यद्यपि उसमें कई वर्ण प्रयुक्त हुआ करते हैं, यथा– 'ज्योत्सना' इसमें छन्दःशास्त्रीय दृष्टि से 'ज्यो' तथा 'त्स्ना' दो वर्ण हैं। वर्ण एवं अक्षर एक दूसरे के अपर नाम हैं।[१] छन्दःशास्त्र में एक स्वर वाली ध्वनि को 'वर्ण' या 'अक्षर' कहते हैं। इस ध्वनि के उच्चारण में जो समय लगता है उसकी सबसे छोटी इकाई को 'मात्रा' कहते हैं। मात्रा के विषय में यह कारिका प्रसिद्ध है–

---

[१] पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति सञ्ज्ञा क्रियते – महाभाष्य १/१

एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।

त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनञ्चार्द्धमात्रिकम्।।

गुरु वर्ण के पश्चात् हल् की अलग से मात्रा नहीं ली जाती, यथा 'भवेत्' यहाँ 'त्' की अलग से मात्रा नहीं मानी जायेगी, किन्तु लघु वर्ण के पश्चात् 'हल्' होने पर लघु वर्ण गुरु माना जायेगा, यथा 'मात्रकम्'। यहाँ लघुवर्ण 'क' के पश्चात् 'म्' की गुरु सञ्ज्ञा हो जायेगी। ये दोनों ही छन्दःशास्त्र के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। लघु के लिये खड़ी रेखा (।) तथा गुरु के लिये अवग्रह (ऽ) प्रतीक के लिये प्रयुक्त होते हैं। कहीं–कहीं पर वर्ण को मात्रा के आधार पर दो प्रकार से विभक्त किया जाता है– 'लघुवर्ण (एकमात्रिक) तथा 'गुरु' वर्ण (द्विमात्रिक)। व्याकरण में 'लघु' को 'ह्रस्व' तथा 'गुरु' को 'दीर्घ' कहा गया है। 'दीर्घ' और 'गुरु' में केवल इतना अन्तर है कि 'दीर्घ' हमेशा 'गुरु' हुआ करता है, किन्तु छन्दोविधान में संयोग के पूर्व विद्यमान 'लघु' भी 'गुरु' हो जाया करता है। आचार्य पाणिनि ने भी 'संयोगे गुरु'[1] कहकर 'लघु' की गुरु सञ्ज्ञा की। दीर्घ और 'गुरु' के भेद प्रदर्शन में आचार्य पाणिनि का केवल इतना ही तात्पर्य होगा कि कहीं लोग 'गुरु' शब्द का व्याकरण में भी व्यवहार न करने लगें। हाँ, इतना अवश्य है कि आचार्य पाणिनि ने 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३/१/३६) तथा 'गुरोश्च हलः' (३/३/१०३) में 'गुरु' शब्द का प्रयोग क्रमशः 'एधाञ्चक्रे' तथा 'ईहा' प्रयोग सिद्ध करने के लिये किया है। किन्तु 'गुरु' शब्द का प्रयोग पाणिनि ने यहाँ पर क्यों किया ? यह समझ में नहीं आता, क्योंकि 'दीर्घ' के प्रयोग होने पर भी प्रयोग सिद्ध होता दीख पड़ता है। शायद सूत्र में लाघव की दृष्टि से वैय्याकरण ने 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया होगा।

[1] १/४/११ अष्टध्यायी – आचार्य पाणिनि

लघु एवं गुरु वर्णों का विधान करते हुए छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने कहा है कि वे वर्ण गुरु होंगे जो अनुस्वार से युक्त, विसर्गान्त, दीर्घ तथा संयोग से पूर्व विद्यमान हों। पादान्त में आवश्यकतानुसार विकल्प से 'लघु' या 'गुरु' स्वीकार कर लिया जाता है।[1] वृत्तरत्नाकरकार ने इनका सङ्कलन करते हुए लिखा है कि –

"सानुस्वारो विसर्गान्तो दीर्घो युक्तपरश्च यः।[2]

वा पादान्ते त्वसौ ग्वक्रो ज्ञेयोऽन्यो मात्रिको लृजुः।।

यहाँ 'युक्तपर' शब्द व्यञ्जन, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीयपरक शब्दों का उपलक्षण है[3] अर्थात् जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय व्यञ्जन आगे रहने पर लघु स्वर गुरु हो जाता है, यथा–

"मन्द कवियश प्रार्थी गमिष्यामुपहास्यताम्। [4]

यहाँ जिह्वामूलीय परभाग में रहने के कारण 'द' कार गुरु है तथा उपध्मानीय आगे रहने के कारण 'श' कार गुरु है। व्यञ्जन आगे होने पर लघु स्वर गुरु हो जाया करता है, यथा–

"रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।"[5]

प्रकृत श्लोकार्द्ध में सकारोतरवर्ती अकार व्यञ्जन नकार होने के कारण गुरु है। पादान्त में विद्यमान लघुत्व–गुरुत्व का नियम वैकल्पिक है अर्थात् आवश्यकतानुसार कहीं गुरु तो कहीं लघु होगा, यथा–

"तस्याः खुरन्यासपवित्रमपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।"[6]

---

[1] पिङ्गल छन्दः सूत्र (गन्ते १/१०, ग्रादिपर १/११, हे १/१२)

[2] वृत्त रत्नाकर १/६

[3] आदिशब्देन विसर्जनीयानुस्वारजिह्वामूलीयोपध्मानीयानां ग्रहणम्। – (पि० सू० १/११ की हलायुधवृत्ति)

[4] रघुवंश महाकाव्यम् सर्ग–१, पद्य–३

[5] रघुवंश महाकाव्यम् सर्ग –१, पद्य–६

[6] रघुवंश महाकाव्यम् सर्ग–२, पद्य–२

आलोच्य 'इन्द्रवज्रा' छन्द के प्रथम पाद का 'सु' लघु होते हुए भी वैकल्पिक 'गुरु' हैं, क्योंकि इस छन्द के अन्त में 'गुरु' होना आवश्यक है।

एक अन्य उदाहरण भट्टिकाव्य से –

'अथ लुलित पतत्रिमालं रुग्णासनबाणकेशरतमालम्।

स वनं विविक्तमालं सीतां द्रष्टुं जगामालम्।।

उपर्युक्त पद्य में आर्या छन्द है। इसमें प्रथम पाद के अन्त वाला 'लं' सानुस्वार वर्ण होने के कारण गुरु होना चाहिये था, किन्तु पादान्त होने के कारण विकल्प से लघु हो गया, अन्यथा प्रथम पाद में तेरह मात्रायें हो जाती, जिससे आर्या छन्द का लक्षण दूषित होने से असङ्गत होता और छन्दोभङ्ग दोष प्रसक्त होता।

कहीं–कहीं पर 'युक्तपर' का अपवाद भी पाया जाता है। इस विषय में भट्ट केदार भट्ट का मत है कि पाद के आदि में होने वाले अक्षर संयोग को 'क्रम' सञ्ज्ञा दी जाती है। उसके आगे अर्थात् 'क्रम' परे होने पर गुरु वर्ण भी लघु हो जाता है।[१] यहाँ पाद से द्वितीय एवं चतुर्थ पाद का ग्रहण होता है।यथा–

तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।

अल्पव्ययेन सुन्दरि ! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति।।

प्रकृत आर्या छन्द में चतुर्थ पाद के प्रारम्भ में 'ग्' तथा 'र' का संयोग है, अतः यह 'क्रम' सञ्ज्ञक होगा। इसके पहले विद्यमान 'सुन्दरि' का 'इकार' 'युक्तपरश्च यः' के अनुसार 'गुरु' है, किन्तु 'गुरु' मानने से बारह मात्रा के स्थान पर तेरह मात्रा हो जायेगी, जिस कारण छन्दोभङ्ग दोष आ पड़ेगा, अतः 'लघु' मान लिया गया है।

---

[१] पादादाविहवर्णस्य संयोगः क्रम सञ्ज्ञकः।
पुरः स्थितेन तेन स्यात् लघुतापि क्वचिद्गुरोः।। (वृ० र० १/१० ६)

युक्तपरक पादान्त गुरु के लघु होने का यह नियम उपलक्षणमात्र दीख पड़ता है, क्योंकि पिङ्गल मुनि का विकल्पविधायक सूत्र 'प्रहे वा' के अनुसार कहीं–कहीं पादान्त में न रहने वाला 'गुरु' 'प्र' तथा 'ह्र' के पहले 'लघु' हो जाता है,[1] यथा –

सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतप्रत्युद्गमनीयवस्त्रा।[2]

निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे।।

महाकवि कालिदास के प्रकृत प्रसिद्ध उपेन्द्रवज्रा छन्द में 'गृहीत' का तकारोत्तरवर्ती 'अ' युक्तपर होने के कारण 'गुरु' होना चाहिये था, किन्तु 'प्र' के पहले होने के कारण वह लघु है। यह पादान्त में भी नहीं है, अपितु द्वितीय पाद के मध्य में हैं।

'ह्र' परक लघुता का उदाहरण –

"प्राप्य नाभिह्रदमज्जनमाशु प्रस्थितं निवसनग्रहणाय"।[3]

महाकवि माघ के इस पद्य में 'ह्र' के पूर्व में विद्यमान संयोग परक गुरु 'इ' लघु हो गया है। यह 'नाभि' शब्द प्रथम पाद के बीच में है, अन्त में नहीं।

रामायण में भी ऐसा प्रयोग – ह्र परक गुरुत्व की लघुता मिलता है– यथा–

तव ह्रियाऽपरिह्रियो मम ह्रीरभूच्छशिगृहेऽपि ह्रतं न धृता ततः।

बहुलभ्रामरमेचकतामसं मम प्रिये ! क्व समेष्यति नो पुनः।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "युक्तपर" का नियम सार्वत्रिक नहीं है। कभी–कभी तीव्र उच्चारणवशात् 'युक्तपर' का नियम नहीं लागू होता अर्थात् संयुक्त

---

[1] 'प्रह्रे वा' इति, पिङ्गलमुनेर्विकल्पविधायकसुत्रम्' आज प्रचलित छन्दःसूत्र में यह नहीं पाया जाता । छन्दोमञ्जरी, १/११ की 'सुषमा' टीका से उद्धृत

[2] कुमारसम्भवम् सर्ग– ७, पद्य– ११

[3] शिशुपालवध सर्ग–१०, पद्य–६०

अक्षर से पूर्व का वर्ण लघु ही रहता है, वहाँ छन्दोभङ्ग दोष नहीं होता,[1] अपितु छन्दोभङ्ग दोष से बचने के लिये ऐसा प्रयोग कविजन किया करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि लघु–गुरु का वैकल्पिक नियम द्वितीय एवं चतुर्थ पाद में ही समझना चाहिये, क्योंकि प्रथम तथा तृतीय पाद के अन्तिम वर्ण अगले पाद से सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम तथा तृतीय पाद के लघु वर्ण केवल वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा में ही गुरु माने जाते हैं। इन वृत्तों मे प्रथम तथा तृतीय पाद की समाप्ति में आने वाले गुरु अथवा लघु वर्ण के प्रयोग से भी श्रव्यता–सौन्दर्य में हानि नहीं होती। इसी लिये कहा गया है –

'न पदान्तलघोर्गुरुत्वं सर्वत्र।'

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती वर्ण 'गुरु' क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि बन्ध में दृढ़ता लाने के लिये ही ऐसा किया जाता है। वस्तुतः 'बन्धदार्ढ्य' ही पादान्तस्थ वर्ण के गुरु लघु होने में तथा 'युक्तपर' के नियम में कारण होता है। इस व्यवस्था के कारण निश्चित रूप से कवियों को काव्यनिर्माण में सुविधा होती है और इससे कोई हानि भी नहीं होती।

पाद

छन्द के स्वरूपाधायक तत्त्वों में से एक तत्त्व है, पाद। इसके अपर नाम हैं–चरण, अङ्घ्रि। कोश में 'पाद' शब्द के विविध अर्थ प्राप्त होते हैं, यथा– पर्वत के समीप की छोटी पहाड़ी[2], पैर तथा चरण[3], चतुर्थ भाग[4] तथा किरण[5], किन्तु छन्दःशास्त्र

---

[1] यदातीव्रप्रयत्नेन संयोगादेरगौरवम्।
न च्छन्दोभङ्ग इत्याहुस्तदा दोषाय सूरयः।। – सरस्वती कण्ठाभरण १/१३

[2] पादाःप्रत्यन्तपर्वताः –अगरकोश, काण्ड–२, वर्ग–३, पद्य–७

[3] पादः यदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् – वही, वर्ग–६, पद्य–७१

[4] पादः तुरीयो भागः स्यात् – वही, वर्ग–६, प–८६

[5] पादाः रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः – वही, काण्ड–३, वर्ग–३, पद्य–८६

में 'चतुर्थ' या 'चौथाई' भाग ही अभिप्रेत है। पद्य या छन्द का चतुर्थ भाग 'पाद' कहलाता है, जैसा कि पिङ्गल[1] तथा परवर्ती छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने कहा है। अन्य शब्दों में, जहाँ पाद शब्द का व्यवहार हो, वहाँ छन्द का चतुर्थ भाग समझना चाहिये। उल्लेख्य है कि चतुर्थ भाग से सम चतुर्थ भाग ही नहीं समझना चहिये, अपितु जिस लक्षण में जितना कहा गया हो, उतने का ही ग्रहण करना चाहिये, तभी अर्द्धसम एवं विषम छन्दों के – जिनके चरण बराबर नहीं होते– 'पाद' शब्द का व्यवहार हो सकेगा, अन्यथा नहीं।[2] यह भी ध्यातव्य है कि पाद का यह लक्षण प्रायिक है, सामान्य नहीं, क्योंकि गाथा छन्दों में (वैदिक छन्दों में भी) तीन और छः पाद भी होते हैं। यदि हम प्रकृत लक्षण को ही 'पाद' का सामान्य लक्षण स्वीकार कर लें तब यह लक्षण तीन एवं छः पादों वाले गाथा आदि छन्दों में 'अव्याप्ति दोष' से दूषित हो जायेगा, जो कि अनिष्ट होगा। अत एव 'पाद' शब्द पूरे छन्द के एस विशिष्ट अंश के लिये रूढ हो गया, जो एक पङ्क्ति में लिखा जाता था। पादबद्धता के कारण ही छन्द को 'पद्य' (पदं चरणम् अर्हतीति) नाम दिया जाता है। पद्य स्थान के अनुसार आचार्यों ने 'पाद' के नाम भी दिये हैं। समस्थानीय पादों को 'युक्' तथा विषम स्थानीय पादों को 'अयुक्' सञ्ज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार 'सम' स्थान को 'युग्म' तथा 'अनोज' एवं विषम स्थान से 'अयुग्म' तथा 'ओज' नाम दिया जाता है।

गण

'गण' छन्दःशास्त्र का एक पारिभाषिक तत्त्व है, जिसका छन्द स्वरूप निरूपण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गण का अर्थ है– 'समूह'। वैसे कोशकारों ने 'गण' शब्द के

---

[1] पादश्चतुर्भागः – छन्दः शास्त्र ४/१०

[2] यस्य वृतस्य यादृशैः पादैर्न्यूनाक्षरैरधिकाक्षरैर्वा समाप्तिर्दृश्यते,
तस्य तादृशा एव पादा ग्रहीतव्याः।..............उद्गतादिषु विषमवृत्तेषु चतुर्भागातिक्रमेणापि पादव्यवस्थादर्शनात् (छन्दः सूत्र ४/११ की हलायुध वृत्ति)

अनेक अर्थ बताये हैं– समूह[1], शिव के दूत[2] तथा व्याकरण में धातुओं तथा शब्दों के वे समूह, जिनमें समान लोप, आगम तथा वर्ण विकार आदि होते हैं। यहाँ प्रथम अर्थ ही अभिप्रेत है। प्रश्न उठता है किसका समूह ? उत्तर मिलता है वर्णों का समूह। पुनश्च प्रश्न उठता है– कितने वर्णों का समूह ? उत्तर मिलता है तीन वर्णों का समूह। तीन वर्णों के समूह के लिये आचार्यों ने 'त्रिक' का प्रयोग किया है। इन्हीं गणों से छन्द का आकार निर्मित होता है।[3]

गण दो प्रकार का होता है– १. मात्रागण २. वर्णगण। मात्रागणों में एक गण की चार मात्रा होती है, जिनका प्रयोग आर्यादि मात्राछन्दों के स्वरूप निरूपण के सन्दर्भ में किया गया है। एक गण में चार मात्रा के आधार पर मात्रागणों की संख्या पाँच बैठती है–

१. सर्वगुरु (SS), २. अन्तगुरु (।।S) ३. मध्य गुरु (।S।)
२. आदिगुरु (S।।) ५. सर्व लघु (।।।।)[4] ।

ध्यातव्य है कि लघु की एक मात्रा और गुरु की दो मात्रा होती है। प्रश्न उठता है कि वार्णिक गणों की तरह इसमें तीन की संख्या का विधान नहीं है क्योंकि वर्ण एकमात्रिक भी हुआ करते हैं तथा द्विमात्रिक भी। अतएव गण में मात्राओं की संख्या का 'दो' से विभाज्य होना सुविधाजनक था। दो मात्राओं की इकाई छोटी होती तथा कहीं–कहीं एक ही वर्ण के बराबर हो जाती। इसलिए चार मात्राओं को इकाई मानकर मात्रिक गण सञ्ज्ञा दी गयी।

---

[1] अमरकोश, काण्ड–२, वर्ग–५, पद्य–४०

[2] वही काण्ड–३, वर्ग–३, पद्य–४६

[3] ज्ञेया ह्यष्टौ त्रिकास्तत्र सञ्ज्ञाभिः सीनमक्षरम्।
त्रीण्यक्षराणि विज्ञेयस्त्रिकोंऽशः परिकल्पितः।। नाट्यशास्त्र १५/८१

[4] लः समुद्रा गणः (पिङ्गल छन्दःसूत्र ४/१२), गौगन्तमध्यादिर्न्लश्च (४/१३)

वर्णगण आठ प्रकार के हैं। इसके स्वरूप का निर्धारण करते हुए आचार्य पिङ्गल ने अपने ग्रन्थ में प्रत्येक गणों के स्वरूप–निर्धारक आठ सूत्र दिये हैं।[1] स्वरूप सहित गणों के नाम इस प्रकार हैं – मगण (ऽ ऽ ऽ), यगण (। ऽ ऽ), रगण (ऽ । ऽ), सगण (। । ऽ), तगण (ऽ ऽ ।), जगण (। ऽ ।), भगण (ऽ । ।), तथा नगण (। । ।), । आचार्य भरत, कालिदास, केदारभट्ट, तथा गङ्गादास तथा दुःखभञ्जन कवि प्रभृति छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने भी गणों के यही स्वरूप निर्धारित किये हैं, जिसे सम्बन्धित ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

गणों का स्वरूप–निर्धारण करने के लिए 'यमाताराजभानलगम्' सूत्र का जानना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें दश अक्षर हैं, जिसमें प्रत्येक अक्षर प्रत्येक गण का सूचक है, अन्तिम दो अक्षर 'ल', 'लघु' का तथा 'ग', 'गुरु' का द्योतक है। जिस गण के स्वरूप को जानना हो, उस अक्षर के सहित आगे के दो अक्षर को ले लेने से उस गण का स्वरूप निर्मित हो जाएगा। उदाहरण के लिए यदि यगण का स्वरूप हो तो यमाता अर्थात् आदि लघु वाला यगण (। ऽ ऽ) का स्वरूप होगा।

छन्दोविधान में लक्षणोक्त क्रमिक गणों का पूरा होना आवश्यक है, न कि ऐसे शब्दों का प्रयोग जिससे गण स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ते हों। यदि ऐसा है तो अच्छा होगा। इस विषय में क्षेमेन्द्र[2] का कथन है कि यह आवश्यक नहीं कि श्लोकों में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया जाए जिससे प्रत्येक गण अलग–अलग गोचर हों, अपितु जिस छन्द रचना के लिए क्रमशः जितने गणों का निर्देश हो, उनके अनुसार वर्ण पूरे हों। गणों की गणना कहीं अलग–अलग प्रयुक्त वर्णों से, कहीं एक पदस्थित

---

[1] धीस्त्रीम्(वही १/१), व रा सा य् (१/२) का गुह र् (१/३) वसुधा स् (१/४) सा तेक्वत् (१/५), कदास ज् (१/६), किं वद् भ् (१/७), न हस न् (१/८)

[2] क्वचिद्विक्षिप्तसंस्थानैः क्वचिदेकपदस्थितैः।
संयोगस्थैः क्वचिद् दत्तमुदाहरणमक्षरैः ।। – सुवृत्ततिलक विन्यास प्रथम, पद्य – ६

वर्णों से और कहीं संयुक्त वर्णों से मिलाकर की जाती है। वार्णिक छन्द में निश्चित गण, वर्ण तथा लघु क्रमानुसार पङ्क्तिबद्ध होते हैं, किन्तु मात्रिक छन्दों में ऐसा नहीं होता। मात्रिक छन्दों में तो मात्रायें पूर्ण की जाती है, चाहे उनकी पङ्क्ति में वर्ण अधिक हों या कम, किन्तु कुछ मात्रिक छन्द ऐसे भी होते हैं, जिनमें मात्रिक नियम के पालन के साथ–साथ किसी विशिष्ट पाद के अन्तर्गत किसी गण विशेष का नियमन भी आवश्यक होता है। आर्या आदि के भेदों में देखा जा सकता है।

वैदिक छन्दों में छन्दः स्वरूप–निर्धारण के लिए गणों का उपयोग नहीं किया जाता था। अक्षरों की संख्या के निर्देश द्वारा ही छन्द की अथवा उसके पाद के स्वरूप को ज्ञान हो जाता था, क्योंकि वैदिक छन्दों में पादगत अक्षरों की संख्या की समानता के अतिरिक्त उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की योजना ही अभीष्ठ होती थी, (इसी कारण वैदिक छन्द को स्वरवृत्त भी कहा जाता है) पादगत मात्राओं की संख्या–समानता अथवा मात्राओं का क्रम निर्देश आवश्यक नहीं था, जिस कारण लघु–गुरु की सामूहिक इकाई की आवश्यकता नहीं पड़ी। लौकिक संस्कृत के छन्दों में पादगत अक्षर–संख्या के बोध के साथ–साथ पादगत मात्रा–संख्या तथा इसके क्रम का निर्देश भी आवश्यक हो गया। मात्रा–क्रम–निर्देश के लिए ही प्रत्येक वर्ण के लघु–गुरु स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तृत उल्लेख छन्द–स्वरूप–निरूपण की दृष्टि से आवश्यक हो गया, जिससे एक ऐसी पद्धति की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जिसके द्वारा सङ्क्षेप में छन्द के पूरे लक्षण को सुग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए 'गण' पद्धति का अविष्कार हुआ।

आचार्य भरत ने गणों की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी है। शायद आचार्य ने नाट्य की दृष्टि से ऐसा स्वीकार किया है, क्योंकि छन्दः शास्त्रीय आचार्यों की परम्परा में 'ब्रह्मा' का नाम नहीं है। भरत के अनुसार, 'ये आठ त्रिक हैं, जो ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हैं। ये गण

छन्दःशास्त्र में लाघव तथा छन्दः प्रमाण बतलाने के लिये निर्मित किये गये हैं। इन्हीं से वृत्त तथा जाति की उत्पत्ति हुई। ये छन्द के लक्षण वेताओं द्वारा सस्वर तथा अस्वर रूप में भी प्रयुक्त किये जाते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचनों का विश्लेषण करने पर गणों के सन्दर्भ में यहाँ पर दो प्रश्न उपस्थापित होते हैं—

१. गण तीन ही अक्षर का क्यों होता है?

२. आचार्य पाणिनि के व्याकरण सूत्र प्रत्याहारों से बने हैं और छन्दों के लक्षणभूत सूत्र गणों से। जिस प्रकार प्रत्याहारों की संख्या आवश्यकतानुसार बढ़ायी जा सकती है, उसी प्रकार गणों की संख्या बढ़ायी जा सकती है। अतः गणों की संख्या आठ ही क्यों ?

वार्णिक गण तीन ही अक्षर के क्यों ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए डॉ० शिवनन्दन प्रसाद कहते हैं कि " 'गण' का मान ऐसा होना चाहिये, जो बहुत अधिक भी नहीं, अल्प भी नहीं। इसलिए, तीन वर्णों के गण स्वीकृत हुए।"[२] इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान प्रस्तुत करते हुए वे आगे कहते हैं— "भारत में तीन की संख्या के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। यह संख्या बड़ी संख्याओं में सबसे छोटी और छोटी संख्याओं में सबसे बड़ी समझी गयी। दर्शन के क्षेत्र में भी, इस अनेक रूपात्मक जगत् के उद्भव की व्याख्या के लिये तीन 'प्रधान' जिनका सम्बन्ध तीन गुणों से है, इकाई के रूप में स्वीकृत हुए। वैशेषिकों का 'त्र्यणुक' तथा वेदान्तियों द्वारा मान्य जीवन की तीन दशायें – उत्पत्ति, स्थिति और संहार— भी उल्लेख्य हैं। अनन्तकाल

---

[१] एते ह्यष्टौ त्रिका नामा विज्ञेया ब्रह्मसम्भवः।।
लाघवार्थं पुनरमी छन्दो मानमवेक्ष्य च।
एभ्यो विनिर्गताश्चान्या जातयोऽथ समादयः।।
अस्वराः सस्वराश्चापि प्रोच्यन्ते वृत्त लक्षणैः। — भरत नाट्यशास्त्र १५/८४, ८६

[२] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० –२४

को भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीन वर्गों में परिधि–बद्ध किया गया। फलित ज्योतिष के अनुसार नक्षत्रों के तीन गण हैं– देव, मनुष्य और राक्षस। देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और महेश, गुणों में सत्, रज, तम्, लोकों में आकाश–धरित्री–पाताल आदि 'तीन' की लोकप्रियता के परिचायक हैं। पाणिनि के अनुसार भी बहुत्व बोधक सबसे छोटी 'तीन' है। ....अतएव, आश्चर्य की बात नहीं है कि लौकिक संस्कृत काव्य में छन्दों के लक्षण–निरूपण तथा पादगत स्वरूप और परिमाण के निर्देश के लिये तीन वर्णों के समूह को प्रतिमान रूप में स्वीकार किया गया और यह प्रतिमान 'गण' कहलाया।"[१]

डॉ० शिवनन्दन प्रसाद ने 'तीन' की संख्या की लोकप्रियता के आधार पर गणों का स्वरूप 'तीन' अक्षर का स्वीकार किया है। किन्तु यह सांस्कृतिक दृष्टि से किया गया समाधान प्रतीत होता है, छन्दःशास्त्रीय दृष्टि से नहीं।

वैय्याकरणों ने उच्चारण मात्रा को ध्यान में रखकर तीन प्रकार के स्वर बताये हैं–ह्रस्व(एक मात्रा वाला), दीर्घ (दो मात्रा वाला) तथा प्लुत (तीन या तीन से अधिक मात्रा वाला)। परन्तु छन्दःशास्त्र में प्लतु का अन्तर्भाव दीर्घ में ही कर दिया गया है। अतः छन्दःशास्त्र केवल दो स्वरों या व्यञ्जनों को मान्यता देता है– ह्रस्व तथा दीर्घ। ह्रस्व तथा दीर्घ के स्थान पर क्रमशः लघु तथा गुरु शब्दों का प्रयोग होता है। लघु वर्ण एक मात्रा का परिचायक तथा गुरु वर्ण दो मात्रा का परिचायक है। इस विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक लघु अक्षर अपने विषय में दो सूचनायें देता है–

१. यह कि वह एकमात्रिक है।

२. यह कि वह एक लघु अक्षर है।

इसी प्रकार प्रत्येक गुरु वर्ण यह सङ्केत करता है–

---

[१] मात्रिक छन्दों का विकास, पृ० –२५

१. कि वह एकाधिक मात्रा वाला है।

२. कि एक गुरु वर्ण अर्थात् दो लघु वर्ण है।

यदि गुरु वर्ण एवं लघु वर्ण दोनों को एक साथ रखा जाए, तो समन्वित रूप से वे तीन मात्राओं तथा तीन अक्षरों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार गुण एवं संख्या दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर लघु तथा गुरु वर्णों का समन्वय तीन मात्राओं अथवा तीन अक्षरों का ही प्रतिनिधित्व करता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि तीन ही अक्षरों को गण बनाया जाना युक्तिसङ्गत तथा उचित है।

जहाँ तक द्वितीय प्रश्न का सम्बन्ध है, प्रस्तारगत गणितीय दृष्टि से माहेश्वर सूत्रों के माध्यम से आचार्य पाणिनि के द्वारा बनाये गये प्रत्याहारों से भी अधिक प्रत्याहार बन सकते हैं, किन्तु छन्दःशास्त्र में आवश्यकता पड़ने पर भी आठ से अधिक 'गण' नहीं बन सकते हैं। यदि लघु एवं गुरु को बारी–बारी से व्यवस्थित करें तो आठ ही स्वरूप बनने सम्भव हैं–

१. आदि लघु = । ऽ ऽ

२. मध्य लघु = ऽ । ऽ

३. अन्त लघु = ऽ ऽ ।

४. सर्व लघु = । । ।

५. आदि गुरु = ऽ । ।

६. मध्य गुरु = । ऽ ।

७. अन्त गुरु = । । ऽ

८. सर्व गुरु = ऽ ऽ ऽ

उपर्युक्त स्वरूपों पर गणितीय दृष्टि से विचार करें, तो पाते हैं कि आठ के अतिरिक्त एक भी गणस्वरूप नहीं सामने आता। हाँ, अगर गणों को तीन अक्षरों का

समूह न मानकर चार अक्षर का समूह मानें तो आठ से अधिक गण बन जायेगें, किन्तु गण चार अक्षर के हो नहीं सकते, जैसा कि प्रथम प्रश्न के उत्तर में बताया जा चुका है। अतः गणों की संख्या आठ उपपन्न है। मात्रिक गणों की संख्या पाँच है। दोनों गणों की संख्या का योग करने पर कुल तेरह ही गण बनते हैं। यद्यपि जनाश्रयी–छन्दोविचिति में अट्ठारह गणों का विवेचन मिलता है, किन्तु उसमें विकसित गणों का अन्तर्भाव इन्हीं अष्टगणों में हो जाता है।

गणों के देवता, शुभाशुभ फल एवं अक्षर

गण विवेचन के सन्दर्भ में कतिपय छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने गणों के देवता, शुभाशुभ फल तथा अक्षरों पर भी विचार किया है। इस विषय में सम्भवतः सर्वप्रथम भामह ने ही कुछ कहा है, क्योंकि भामह की ही बात को उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा कहा गया है। उनके अनुसार मगण का देवता 'भूमि' तथा फल 'लक्ष्मीलाभ' है। यगण का देवता 'जल' तथा फल 'वृद्धि' है। रगण का देवता 'अग्नि' तथा फल 'विनाश' है। सगण का देवता 'वायु' तथा फल 'विदेशगमन' है। जगण का देवता 'सूर्य' तथा फल 'राग' है। भगण का देवता 'चन्द्रमा' तथा फल 'सुकीर्ति' है। नगण का देवता ' स्वर्ग' तथा फल 'आयुष्य' है :–

मो भूमिस्त्रिगुरुः श्रियं दिशति यो वृद्धिं जलं चादिलो,
रोऽग्निर्मध्य लघुर्विनाशमनिलो देशाटनं सोऽन्त्यगः।
तो व्योमान्तलघुर्धनापहरणं जोऽर्को रुजं मध्यगो,
भश्चन्द्रो यश उज्ज्वलं मुखगुरुर्नो नाक आयुस्त्रिलः।।[1]

सभी छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने गण के देवतादि के विषय में उल्लेख नहीं किये हैं। चूँकि आचार्य पिङ्गल ने वैदिक छन्दों के निरूपण के सन्दर्भ में देवतादि

[1] छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में भामह के नाम से उपलब्ध।

का कथन किया है, इसलिए शायद गणविधान में देवतादि की चर्चा स्वतः लोकजीवन के बीच उद्भूत न होकर वैदिक–पौराणिक परम्परा का निर्वाहमात्र प्रतीत होती है।

इन गणों में परस्पर सम्बन्ध की चर्चा करते हुए कहा गया है कि मगण एवं नगण मित्र हैं, भगण और यगण भृत्य हैं, जगण और तगण उदासीन हैं, रगण और सगण शत्रु तथा नीच हैं–

म–नौ मित्रे भ–यौ भृत्यावुदासीनौ ज–तौ स्मृतौ।

र– सावरी नीचसञ्ज्ञौ द्वौ द्वावेतौ मनीषिभिः।।

इन सम्बन्धों की उपयोगिता बताते हुए कहा गया है कि यदि दैव–योग से दुष्ट गण काव्य के प्रारम्भ में आ जाये, तो द्वितीय गण का शोधन करने से दोष का परिहार हो जाता है। ऐसा प्रयोग वंशस्थ छन्द में प्राप्त होता है, अत एव भारवि, माघ तथा श्री हर्ष के महाकाव्यों में देखा जा सकता है।

आचार्यों ने शुभाशुभ अक्षरों पर भी विचार किया है। अशुभ अक्षरों को ही दग्धाक्षर भी कहते हैं। इन्हें काव्यों के आदि में रखने से छन्द की रोचकता का अपकर्ष हो जाता है, साथ ही ये गणों के फल को भी अशुभ कर देते हैं। ये शुभाशुभ अक्षर इस प्रकार हैं–

शुभ अक्षर – क, ख, ग, घ, च, छ, ज, ड, ध, न, य, व, श, स, तथा क्ष।

अशुभ अक्षर – ऋ, ङ, झ, ञ, टवर्ग, पवर्ग, र, ल, ध, ष, तथा ह।

छन्दःकौस्तुभकार ने समस्त अशुभ अक्षरों को दग्धाक्षर न कहकर केवल ह, ज, ध, र, घ्न, ख तथा भ को दग्धाक्षर कहा है –

"हजध्रघ्नखभानुप्राहुर्दग्धवर्णान् विपश्चितः।"[1]

---

[1] छन्दः कौस्तुभ प्रभा–प्रथमा, पद्य –१५

दुःखदारिद्र्य के वाचक इन अशुभ अक्षरों का प्रयोग काव्य के प्रारम्भ में कवियों को नहीं करना चाहिये। हाँ, यदि ये अशुभ अक्षर मङ्गलवाचक या देवतावाचक शब्दों के प्रारम्भ में आते हैं, तो ये निन्दनीय नहीं हैं। इस विषय में आचार्य भामह का कथन है–

देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा।।

गणदेवतादि बोधक तालिका :–

गणनाम	मगण	यगण	रगण	सगण	तगण	जगण	भगण	नगण
स्वरूप	ऽ ऽ ऽ	। ऽ ऽ	ऽ । ऽ	। । ऽ	ऽ ऽ ।	। ऽ ।	ऽ । ।	। । ।
देवता	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आकाश	सूर्य	चन्द्र	स्वर्ग
फल	श्री	वृद्धि	विनाश	भ्रमण	धननाश	रोग	सुकीर्ति	आयुष्य
मित्रादिसंज्ञा	मित्र	भृत्य	शत्रु	शत्रु	उदासीन	उदासीन	भृत्य	मित्र
शुभ अक्षर	क,ख,ग,घ,च,छ,ज,ड,द,ध,न,य,व,श,स तथा क्ष।							
अशुभ अक्षर	ऋ, ङ, झ, ञ, रवर्ग, पवर्ग, र, ल, ध, ष, तथा ह।							

इस प्रकार गणों के देवतादि का निरूपण हो चुकने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्यों ने गणों के देवतादि का निर्धारण किस आधार पर किया होगा ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है निश्चित रूप से इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध महाकवियों के काव्यग्रन्थों के आधार पर ही इनका निर्धारण हुआ होगा। महाकवि कालिदासकृत रघुवंश एवं मेघदूत का प्रारम्भ 'मगण' से हुआ है। ये दोनों ही कृतियाँ संस्कृत–साहित्य–जगत् में श्रीसम्पन्न एवं समादृत हैं।

अतः फल की तो बात समझ में आती है, किन्तु देवता तथा मित्रादि सञ्ज्ञा का आधार नहीं समझ में आता। अतः यह विद्वानों के बीच गवेषणीय है।

यति

'यति' छन्द के स्वरूपाधायक तत्त्वों में एक महत्त्वपूर्ण घटक है, जिसकी महत्ता प्रायः सभी आचार्यों ने बतायी है। 'यति' का अर्थ है– विच्छेद, पदविच्छेद या विराम,[1] अर्थात् छन्द का पाठ करते समय जहाँ जिह्वा अकस्मात् रुक जाये, वहाँ यति होती है। आचार्य भरत दो शब्दों के निश्चित स्थान पर विच्छिन्न रहने को यति की सञ्ज्ञा देते हैं।[2] यही अर्थ प्रायः सभी छन्दःशास्त्रीय आचार्यों भट्टकेदार, गङ्गादास, दुःख भञ्जन कवि तथा बसन्त त्र्यम्बक शेवडे आदिकों ने भी किया है। जहाँ पर यति होती है, उसे यति–स्थान कहते हैं।

छन्दोविधान में श्रुति–सौकर्य के लिए यति एक निश्चित स्थान में की जानी चाहिये। छन्दःवृद्धों के द्वारा यति स्थान (स्थिति) के विषय में विस्तार से चर्चा की गयी है।[3]

'यतिः सर्वत्र पादान्ते' अर्थात् सभी छन्दों में यति पादान्त में हुआ करती है। 'श्लोकार्द्धे तु विशेषतः' में यति की दो स्थितियाँ पायी जाती हैं–

१. कहीं–कहीं श्लोकार्द्ध में यति स्थल पर विभक्ति स्पष्ट हुआ करती है अर्थात् सन्धिकार्य के अभाव में विभक्त्यन्त पद श्रूयमाण हुआ करते हैं, यथा–

तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि ! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति।।

---

[1] यतिर्विच्छेदः – पिङ्गलकृत छन्दः सूत्र ६/१

[2] नियतः पदविच्छेदो यतिरित्यभिसञ्ज्ञिता – नाट्यशास्त्र १५/८७

[3] यतिः सर्वत्र पादान्ते श्लोकार्द्धे तु विशेषतः।
समुद्रादिपदान्ते च व्यक्ताव्यक्तविभक्तिके।।

प्रकृत स्थल में 'दधीनि' और 'अल्पव्ययेन' में सन्धिकार्याभाव के कारण स्पष्टविभक्तिक यति है।

कहीं–कहीं पर सन्धि होते हुए भी स्पष्टविभक्तिक यति देखी जाती है, यथा–

श्यामाकामाकुला रामा वामा भोगाय आप्यतेऽ।
नेकजन्मसु पुण्यानां निचयो न चितो यदि।।

यहाँ 'पूर्वरूप' सन्धि स्पष्टतः परिलक्षित होती है। प्रायः कवि परम्परा के अनुसार प्रथम एवं द्वितीय चरणों के मध्य तथा तृतीय एवं चतुर्थ चरणों के मध्य ही सन्धिकार्य देखा जाता है। द्वितीय एवं तृतीय के मध्य यह एक दुर्लभ उदाहरण है। यह कवि की अशक्ति से जनित है अथवा यह नियमभङ्ग है। परन्तु इस तरह का उदाहरण एक नये प्रयोग को जन्म देता है।

२. जहाँ पर विभक्त्यन्त पद समास में अन्तर्भूत हो जाने के कारण अस्पष्ट (अव्यक्त) हुआ करते हैं, वहाँ अस्पष्टविभक्तिक यति होती है, यथा–

सुरासुरशिरोरत्नस्फुरत्किरणमञ्जरी–।
पिञ्जरीकृतपादाब्जद्वन्द्वं वन्दामहे शिवम्।।

यहाँ विभक्ति के समस्त हो जाने के कारण 'अव्यक्तविभक्तिक यति' है।

'समुद्रादि पदान्ते च व्यक्ताव्यक्तविभक्तिके' का तात्पर्य यह है कि समुद्रादि पदान्त अर्थात् चतुरक्षरात्मक यति प्रायः पदान्त में हुआ करती है और विभक्ति स्पष्ट होने के कारण 'व्यक्तविभक्तिक' होती है, यथा–

'यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु'[1] इत्यादि मन्दाक्रान्ता छन्द में चार अक्षरों पर हुई यति पदान्तात्मक है। कालिदास के मेघदूतम् में इस प्रकार की 'यति' अनेकशः' देखी जा सकती है।

---

[1] मेघदूतम् –पूर्वमेघ पद्य –१

'क्वचित्तु पदमध्येऽपि समुद्रादौ यतिर्भवेत्' अर्थात् कहीं–कहीं पर यति पद के मध्य में हुआ करती है, यथा–

'पर्याप्तं तप्तचामीकरकटकतटे श्लिष्टशीतेतरांशौ' इस स्रग्धरा छन्द में प्रथम सात अक्षर पर पदमध्या यति है। इसी तरह अन्य जगहों पर भी देखी जा सकती है। 'समुद्रादौ' कहने का तात्पर्य यह है कि पदमध्या यति पादान्त में नहीं होती और यदि होती है तो उसे यतिदोष माना जाता है, यथा–

'प्रणमत भवबन्ध–क्लेशनाशाय नारायणचरणसरोजद्वन्द्वमानन्दहेतुम्।'

प्रकृत मालिनी छन्द के उदाहरण में पदमध्या यति है, जो छन्दःवृद्धों के द्वारा यतिदोष के रूप में देखी जाती है। नारायण शब्द का एक साथ उच्चारण न हो पाना ही इसकी न्यूनता है। यह पदमध्या यति यदि पद के प्रारम्भ के या अन्त के एक अक्षर पर होती है, तो भी यतिदोष का प्रसङ्ग प्रसक्त होता है। यह धातु, नाम, प्रत्यय एवं अव्यय के भेद से चार प्रकार की होती है, यथा–

धात्वैकाक्षरत्व यति दोष–

'एतासां राजति सुमनसां दामकण्ठावलम्बिः।'

यहाँ मन्दाक्रान्ता छन्द में 'राज्' धातु के 'रा' पर पदमध्या यति है, जो एकाक्षरात्मक यति दोष है।

नामैकाक्षरत्व यति दोष –

'दुःसोढो दाशरथिमहिमा राक्षसानां बभूव'

इस मन्द्राक्रान्ता छन्द में 'दा' पर यति है, जो नाम के प्रारम्भ का एक अक्षर है।

प्रत्ययैकाक्षरत्व यतिदोष –

'सुरासुरशिरोनिघृष्टचरणारविन्दः शिवः'

इस 'पृथ्वी' छन्द के आठवें अक्षर 'घ' पर यति है, प्रत्यय का प्रारम्भिक अक्षर है।

अव्ययैकाक्षरत्व यति दोष –

यथा–'रामेशं वा प्रतिदिनमुताहो रमेशं भजामः' प्रकृत स्थल में मन्दाक्रान्ता छन्द है, जिसमें छठें अक्षर 'ता' पर यति है, जो अव्यय का एक भाग है।

इस प्रकार यति दोष मुख्यतः दो प्रकार का होता है– पदमध्ययतिदोष तथा दूसरा सन्धिमध्ययतिदोष। पदमध्ययतिदोष तथा उसके भेदों का विवेचन किया जा चुका है। सन्धिमध्ययतिदोष वहाँ होता है, जहाँ सन्धियुक्त पद यति से पूर्वापर पद के वर्ण से आक्रान्त हो जाता है। ये यतिदोष महर्षि यास्क के मतानुसार वृत्तदोष से पृथक् नहीं होते, क्योंकि वृत्त यत्यात्मक होते हैं।[१] वृत्त के स्वरूप से भिन्न होते हुए भी यति वृत्तान्तर्गत होने से वृत्त लक्षणों में निबद्ध की जाती है।[२]

उपर्युक्त यतिदोषों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पादमध्यगत विराम लेते समय यदि छन्द अपनी स्वाभाविकता से रहित हो जाता है, तो वह विरामस्थल यतिदोष में बदल जायेगा। पादमध्यगत नियत स्थलों पर यति–ग्रहण बिलकुल आवश्यक है। यदि ऐसा न हुआ, तो छन्दोलय में कर्णकटुता आ पड़ेगी। अतः यति के लिये नियत स्थलों के विषय में एक निश्चित सङ्केत प्राप्त होता है, जिसके अभाव में यतिभङ्ग दोष होने से छन्द की गति में व्यवधान उपस्थित होता है, यथा–

' यावच्छृङ्गारसारस्वतमिह जयदेवस्य विष्वग्वचांसि।'[३]

प्रकृत पङ्क्ति के चौदहवें वर्ण 'जयदेवस्य' पद के 'दे' पर यति से नियतस्थान के अभाव में छन्द की गति में रुकावट होती है।

---

[१] न वृत्तदोषात्पृथग्यतिदोषो वृत्तस्य यत्यात्मकत्त्वादिति। – छन्दःसूत्र, वैदिक भाष्य ६/१

[२] यतिश्चेयं वृत्तस्वरूपद्भिन्नापि गुणालङ्काराद्यपेक्षया तदन्तः।
– वही मूलतः डॉ० रामकिशोर मिश्र द्वारा लिखित संस्कृत छन्दों का उद्भव एवं विकास, पृ० १५६ से उद्धृत

[३] गीतगोविन्द, सर्ग–१२, पद्य–४

यति नियमों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'पूर्वान्तवत्स्वरः सन्धौ क्वचिदेव परादिवत्' अर्थात् स्वरसन्धि में जो पूर्व और पर दोनों के स्थान में एकादेश होता है, वह पूर्वान्तवद् होता है और कभी परादिवत् होता है। पाणिनि का सूत्र 'अन्तादिवच्च' (६/१/१८५) भी यही कहता है। छन्दःशास्त्र में व्यञ्जन का भी परादिवद्भाव देखा जाता है।

पूर्वान्तवद्भाव का उदाहरण –

'स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा'[1]

आलोच्य स्थल में 'नो' पर यति है। यहाँ अ + उ = ओ, यह एकादेश पूर्वान्तवत् कार्य करता है।

परादिवद्भाव का उदाहरण –

''अन्तेवासिदयालुरूज्झितनयेनासादितो जिष्णुना''[2]

इस शार्दूलविक्रीडित छन्द में बारहवें अक्षर 'ये' पर यति है। नकारोत्तरवर्ती 'अकार' और 'आसादितो' का 'आ' इन दोनों के स्थान में हुए एकादेश 'नासादितो' यह परादिवत् कार्य करता है।

व्यञ्जन का परादिवद्भाव –

''इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे''[3] इत्यादि स्थलों पर 'द' परादिवत् कार्य करता है।

'यणादेशः परादिवत्' अर्थात् यणादेश परादिवत् होता है–

---

[1] पूर्वमेघ /५१

[2] वेणीसंहार अङ्क–३, पद्य–६

[3] पूर्वमेघ /५

यथा– विततघनतुषारक्षोदशुभ्रांशुपूर्वा–

स्वविरलपदमालां श्यामलामुल्लिखन्तः।

उपर्युक्त स्थल में 'पूर्वासु' और 'अविरल' में यणादेश होकर अगले पाद के आदि अच् 'स्व' परादिवत् हो जाता है। देखें एक और उदाहरण–

'सप्ताकूपारपारप्रथितपृथुयशस्यर्थिसार्थे कृतार्थे' मालिनी छन्द के इस स्थल में यशसि + अर्थिसार्थे = यशस्यर्थिसार्थे में यणादेश 'स्य' परादिवत् होता है।

नित्यं प्राक्पद सम्बन्धश्चादयः प्राक्पदान्तवत्– अर्थात् उनसे पूर्व यति नहीं की जानी चाहिये– यथा– 'स्वादु स्वच्छं च हिमसलिलं प्रीतये कस्य न स्यात्'

यति के नियमों का निर्धारण अक्षर संख्या पर आश्रित रहता है। प्रायः बड़े–बड़े छन्दों में वाणी द्वारा उच्चारण करने पर निश्चित रूप से रुक कर कुछ विश्राम देने की आवश्यकता होती है, यह विश्राम कितने–कितने अक्षरों के उच्चारण के बाद किया जाये, इसका निर्धारण आचार्यों ने उन–उन संख्याओं में विद्यमान प्रसिद्ध लौकिक पदार्थों के कथन द्वारा किया है और इसके समावेश से लक्षण बड़ा ही रोचक बन जाता है। छन्द के लक्षण में यति–सूचक स्थानों के लिये लोकव्यवहार में प्रचलित सञ्ज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। यह लोगों को अधिक सरलता से ग्राह्य बनाने के लिये तथा लक्षण को श्रुतिसुखद बनाने के लिये किया गया है, यथा–

मालिनी छन्द का लक्षण –"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" अर्थात् इस छन्द में भोगि (=८) तथा लोक (=७) अक्षरों पर यति होती है। छन्दों के लक्षण में प्रयुक्त लोक प्रचलित सञ्ज्ञायें इस प्रकार हैं–

सञ्ज्ञायें	संख्या	सञ्ज्ञायें	संख्या
आकाश –	०		
चन्द्रमा, पृथ्वी –	१	अश्व, मुनि, स्वर, लोक –	७
बाहु, पक्ष, नेत्र –	२	वसु, सिद्धि, याम –	८
गुण,राम,ताप,काल,अग्नि –	३	भक्ति, निधि, अंक, ग्रह,	
वेद,वर्ण, फल, अवस्था,		द्रव्य –	९
युग, आश्रम, धाम, समुद्र–	४	दिशा, अवतार –	१०
शर,बाण,इन्द्रिय,भूत,तत्त्व–	५	रूद्र –	११
शास्त्र,राग,ऋतु,रस –	६	सूर्य, राशि, मास –	१२
		भुवन –	१४

उपर्युक्त सञ्ज्ञाओं के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

छन्दोविधान में यति की अनिवार्यता के सन्दर्भ में छन्दःशास्त्रीय आचार्यों में मतभेद हैं। इस विषय में दो मत प्राप्त होते हैं–

१. यति–स्वीकारक मत।

२. यति–अस्वीकारक मत।

यति–स्वीकारक मत को मान्यता देने वाले आचार्यों में प्रमुख हैं– पिङ्गल, वशिष्ठ, कौण्डिन्य, कपिल तथा कम्बल मुनि तथा दूसरे मत के पोषक आचार्य हैं– भरत, कोहल, माण्डव्य, अश्वतर, सैतव आदि[1] इनमें से कई आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते।

आचार्य दण्डी यति को स्वीकार न करने वाले मत का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि "श्लोकों में नियत स्थान पर पदच्छेद 'यति' कही जाती है, उससे भिन्न यति–भ्रष्ट होना श्रुति–कटु होता है।[2]"

---

[1] वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गल–वशिष्ठ–कौण्डिन्य–कपिल–कम्बलमुनयः।
नेच्छन्ति भरत–कोहल–माण्डव्याश्वतर–सैतवाद्याः केचित्।।
जयकीर्ति – छन्दोऽनुशासन अधिकार–प्रथम, पद्य–१३

[2] श्लोकेषु नियतस्थाने पदच्छेदं यतिं विदुः। – दण्डी –काव्यादर्श

वस्तुतः यति के विषय में यदि सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि से विचार करें, तो छोटे–बड़े सभी छन्दों में यति की स्वीकार्यता युक्तिसङ्गत प्रतीत होती है। बड़े छन्दों में तो यह अनिवार्य है ही, छोटे छन्दों में भी यदि 'यति' को न स्वीकार करें तो छन्द की सुश्राव्यता भङ्ग हो सकती है, जो छन्द की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण है। छन्द की सस्वर एवं सङ्गीतात्मक प्रस्तुति के लिये यति एक साधक तत्त्व है। हाँ, इतना अवश्य है कि छोटे छन्दों में यति हमेशा पादान्त में ही होती है, पदमध्या नहीं। कतिपय आचार्य सुश्राव्यताधायक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जिस यति–निर्देश में सुश्राव्यता हो, वही यति आदरणीय है।[1] यति के अनुसार किया गया पाठ श्रवणीयता के आधार पर तो प्रभावशाली होता ही है, साथ ही रचना का वाच्यार्थ समझने से पहले ही वर्ण्यविषय का भी बोध कराने लगता है। उदाहरण के लिए मन्दाक्रान्ता छन्द का पाठ यदि यति के अनुसार करें तो सुनने वाले को यह आभास होने लगता है कि प्रसङ्ग वियोग शृङ्गार का है या करुण का। इसी प्रकार शार्दूलविक्रीडित छन्द वीररस का आभास कराने लगता है। हाँ, यति तभी श्रुतिसुखद होगी, जब यति का अन्त पद के मध्य में न होकर पदान्त में हो। यदि यति पद के मध्य में होती है तो सुनने में विरसता आ जाती है, यथा–

'लभेत सिकतासुतैलमपि यत्नतः पीडयन्'[2] प्रकृत पृथ्वी छन्द के पद्य में आठवें अक्षर पर यति है, किन्तु 'तै' पर पद समाप्त नहीं हुआ, जो सुनने में उद्वेग पैदा कर रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यति छन्द का एक अनिवार्य तत्त्व है, किन्तु वही यति श्रवणीयता के आधार पर खरी सिद्ध हो सकती है, जो यति नियमों के आधार पर की गयी हो और यही यति श्रुति सुखद भी होगी।

---

[1] एवं यथा यथोद्वेगः सुधियो नोपजायते। तथा तथा मधुरतानिमित्तं यतिरिष्यते।।
–छन्दोमञ्जरी १/१३ की टीका में उद्धृत देवेश्वरकृत कविकल्पलता का पद्य

[2] नीतिशतक /५

गति

'गति' संस्कृत–छन्दों का प्रमुख आधार है। 'गति' का अर्थ है– 'लय की गति'। 'लय' का निर्माण पर्वों, लयाधारों से होता है और लयाधारों का निर्माण सार्थक ध्वनियों के नियमित संयोजन से होता है। शब्द संयोजन भेद से लय की गति परिवर्तित हो जाती है। लय की गति की महत्ता को प्रतिपादित करते हुये डॉ० श्याम गुप्त का कथन है कि ''लय की गति शिथिल हो जाने पर छन्द में शिथिलता नामक दोष उत्पन्न हो जाता है।''[१] 'शय्या'[२] तथा 'शब्दपाक'[३] इसके अपर नाम है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय आचार्यों में वामन ने शब्दगुणों के अन्तर्गत 'समाधि' और 'उदारता' गुणों का स्वरूप 'पाठ की लय' पर ही स्थिर किया है।[४] छन्द की निश्चित धारावाहिकता को गति कहते हैं। अन्य शब्दों में, आरोह–अवरोह के साथ धारावाहिक रूप से छन्द का पाठ किया जाना गति कहलाता है। 'समाधि' गुण में आरोह–अवरोह या अवरोह–आरोह का क्रम रहता है, यथा–

'निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे।'

इस स्थल में आरोह–अवरोह का क्रम है। अवरोह–आरोह का क्रम यथा–

'नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः।'

'उदारता' गुण वहाँ माना जाता है, जहाँ पद नाचते से प्रतीत होते हैं, यथा–

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनाम्।
झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलञ्च।।

---

[१] डॉ० श्याम गुप्त –पंत जी की छन्द योजना, पृ० ७५

[२] पदविनिमयाऽसहिष्णुत्वाद् बन्धस्य पदानुगुणरूपा शय्या।
या पदानामन्योन्यमैत्री शय्येति कथ्यते। – प्रताप रूद्रयशोभूषण, पृ०–६७

[३] यत्पदानित्यजन्त्येव परिवृत्ति–सहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।। – काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १/३/१५

[४] काव्यलाङ्कारसूत्रवृत्ति – आरोहावरोहक्रमः ३/१/१३ तथा ३/१/२३

जब कोई पाठक छन्द का पाठ करता है, तो लय के साथ उसकी स्थिति प्रमुख रूप से दो प्रकार की होती है–

१. किसी छन्द को पढ़ते समय पाठक को, चाहे वह इसका अर्थ न भी समझ रहा हो, कुछ ऐसा आभासित हो रहा होता है कि वह भी कोमल अथवा कठोर वर्ण्य विषय की मन्थर अथवा त्वरित गति के साथ बहा चला जा रहा है, यथा–

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रुक्षं सलिलेषु चण्डम्।[1]
सङ्गीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः।।

प्रकृत पद्य में शूद्रक ने जलधाराओं की उपमा सङ्गीत वीणा से दी है और इसका संयोजन इस रूप में किया गया है कि पाठक इसे पढ़ते ही बिना अर्थावबोध के ही सङ्गीतमयी गति में लहराने लगता है।

अन्यत्र–

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिर्दंष्ट्र–[2]
मुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र–
जृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम्।।

छन्द के प्रयोग की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आलोच्य छन्द को पढ़ते ही यह आभासित होने लगता है कि किसी कठोर एवं दुर्धर्ष प्रसङ्ग की अभिव्यक्ति होने जा रही है। वेणीसंहार एवं मुद्राराक्षस आदि नाट्यकृतियों में इसी तरह के पद्य अनेकशः देखने को मिलते हैं।

---

[1] मृच्छकटिकम् – अङ्क– ५, पद्य– २२

[2] उत्तररामचरितम् अङ्क–४, पद्य– २६

२. दूसरी स्थिति यह है कि पाठक जैसे–जैसे छन्द का पाठ करता जाता है, उसे अर्थावबोध होता जाता है और उसे पाठ की लय अर्थानुकूल प्रतीत होने लगती है, यथा–

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।[1]
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः।।

प्रकृत छन्द का पाठ करते समय और साथ ही साथ अर्थावबोध हो चुकने के बाद तो विशेष रूप से पाठक को इस पद्य की लय से लगता है कि विवेकशील राजा मानो वध्य और अवध्य का विवेक कर रहा है और अपने सम्बन्ध में नितान्त विश्वस्त है कि गौ के लिये घातक यह जन्तु चाहे कितना भी भयंकर क्यों न हो, मुझसे बच नहीं सकता। साथ ही, राजा के इस शौर्यकृत्य के प्रति पाठक को कोई चपलता नहीं होती और वह भी राजा दिलीप के साथ आश्वस्त भाव से इस घटना को देखने के लिये प्रस्तुत होता चलता है।

दूसरा प्रसङ्ग–

तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानां च नभो जयन्तीम्।[2]
आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि महीभुजः कस्य न भोजयन्तीम्।।

इस छन्द को पढ़ते समय, विशेषतः अर्थावबोध हो चुकने के बाद छन्द की गति से ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं की तृप्ति के साथ–साथ पाठक की सहृदयता भी धीरे–धीरे तृप्त होती चली जा रही है।

उपर्युक्त सन्दर्भों के अनुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निश्चित रूप से काव्य में छन्द के अनुरोध से एवं तत्तद्पदावली के प्रयोग से पद्य में एक विशेष प्रकार की गति प्राप्त होती है। छन्द का पाठ करते समय प्रसङ्गानुरूप

---

[1] रघुवंश सर्ग–२, पद्य –३०

[2] नैषधीयचरितम् सर्ग– १०, पद्य–१०७

(वीर, करुण, शृङ्गार आदि को अभिव्यक्ति देने में समर्थ) वाणी अनायास या कहें कि स्वभावतः निःसृत होने लगती है। तभी तो 'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात' आदि का पाठ करते समय 'वाणी की स्थिति' क्रोध को अभिव्यक्त करने लगती है और वस्तुतः इसे ही गति कह सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि 'छन्द' का पाठ करते समय गतिमयता के कारक कौन–कौन से तत्त्व हैं ? क्या छन्द की सम्बन्धित वर्ण–संख्या या छन्द का नाम इसका कारक हो सकता है? प्रश्न के उत्तर स्वरूप यह कहा जा सकता है कि छन्द के पाठ में गतिमयता लाने में न तो छन्द की वर्ण–संख्या और न ही छन्द का नाम कारक है, बल्कि इसके कारक हैं–प्रसङ्गानुसार वर्णों का प्रयोग, यति तथा गणों का विशिष्ट क्रम। छन्द की गतिमयता में जो सबसे अधिक उपकारक है, वह है– गणों का विशिष्ट क्रम, उदाहरण के लिए मन्दाक्रान्ता छन्द को लें। इसका लक्षण है– "मन्दाक्रान्ता जलधिषड्गैर्म्भौ न तौ ताद् गुरू चेत् ।" यदि यहाँ 'मगण' के स्थान पर 'भगण' और 'भगण' के स्थान पर 'मगण' कर दिया जाये तो वह गतिमयता नहीं आ पायेगी, जो मन्दक्रान्ता के वर्तमान स्वरूप में आती है। गणों के पौर्वापर्य में व्यतिक्रम होने पर सङ्गीतमयी प्रस्तुति तो बाधित होगी ही, साथ ही छन्द का पाठ करते समय उच्चारण में क्लिष्टता का भी अनुभव होगा। अतः छन्द में गति लाने में गणों के पौर्वापर्य का विशेष स्थान है।

निष्कर्ष :–

उपर्युक्त छन्दःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के विश्लेषण के पश्चात् यह बात सिद्ध होती है कि वर्ण एवं मात्रा, यति, गति, पाद तथा गण आदि के बिना छन्द की सिद्धि सम्भव नहीं है। यदि कवि को छन्द का एक भव्य भवन निर्मित करना है, तो छन्द के कारण सामग्रीभूत वर्ण एवं मात्रा आदि का सहारा लेना ही होगा। छन्द के

सैद्धान्तिक विश्लेषण का नाम आते ही इन पारिभाषिक शब्दों की ओर अवश्य रूप से ध्यान जाता है, क्योंकि छन्द का रूप ही वर्ण, मात्रा, पाद, गति, यति आदि सभी संघटक तत्वों के सम्मिलन होने पर सामने आता है। इनमें से कोई तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसे छोड़ देने पर एक उत्कृष्ट छन्द की सिद्धि हो सके। हाँ, यदि 'यति' को छोड़ दें– जैसा कि कतिपय विद्वानों का विचार है– तो छन्द निर्मित तो हो जायेगा, किन्तु इससे छन्द का ही अपकर्ष होगा, क्योंकि आरोह–अवरोह का साधक तत्त्व यति ही है और जिसके बिना छन्द में गतिमयता, लयात्मकता तथा सुश्राव्यता का उच्छेद हो जायेगा। अतः छन्दः के सैद्धान्तिक विश्लेषण के प्रसङ्ग में इन पारिभाषिक तत्वों पर यथासम्भव शोधपरक प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय

छन्दों के भेद-प्रभेद

तृतीय अध्याय

छन्दों के भेद–प्रभेद

छन्दःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों के विश्लेषण के पश्चात् छन्दों के भेद–निरूपण का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, अत एव छन्दों का भेद विवेचन किया जा रहा है।

सर्वप्रथम वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत में रचना–वैशिष्ट्य की दृष्टि से छन्द के दो भेद होते हैं– वैदिक छन्द तथा लौकिक छन्द। यद्यपि वैदिक छन्द प्रकृत शोध की परिधि में नहीं है, तथापि लौकिक छन्द की आधारभूमि होने के कारण वैदिक छन्द का सामान्य परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाना अपेक्षित है। वैदिक वाङ्मय का अधिकाँश भाग छन्दोबद्ध है, यहाँ तक कि सम्पूर्ण ऋग्वेद छन्द में उपनिबद्ध है। छन्द की प्रधानता के कारण ब्राह्मणों तथा वेदाङ्गों में वैदिक मन्त्रों या स्वयं वेद के लिए 'छन्दस्' शब्द का व्यवहार होने लगा, जैसा कि 'छन्द शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ' के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है।

वैदिक छन्दों में दो पाद से लेकर आठ पाद तक होते हैं। चूँकि छन्द अधिकतर चार पादों के हुआ करते हैं, इसलिये पाद शब्द मूलतः चतुर्थांश के अर्थ में प्रयुक्त होता था। जैसा कि अमरकोश में कहा गया है– 'पादाः रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः'[1]। वैदिक छन्दों के पाद प्रायः आठ, ग्यारह, या बारह अक्षरों के हुआ करते हैं। ऋग्वेद की जिन ऋचाओं में सभी पाद समान होते हैं, उनमें अक्षरों की संख्या प्रायः २४ से ४८ तक होती है और ऐसे छन्दों में अक्षर संख्या उत्तरोत्तर चार–चार से बढ़ती जाती है, परन्तु जिन छन्दों में अनेक प्रकार के पादों का मिश्रण हुआ करता है उन मिश्रित छन्दों में अक्षरों की संख्या २८ से

[1] काण्ड–३, वर्ग–३, पद्य–८६

लेकर ६२ तक होती है, किन्तु ऐसे छन्दों का प्रयोग विरल है। अधिकतर मन्त्रों की रचना सामान्य अर्थात् २४ से लेकर ४८ अक्षरों वाले छन्दों में ही मिलती है। ध्यातव्य है कि वैदिक छन्द अक्षरगणना तथा पादाक्षरगणना पर आश्रित होते हैं।

वेद में प्रयुक्त एवं उल्लिखित प्रमाणों के आधार पर छन्दों के भेद का निर्धारण करना अत्यन्त विषम प्रतीत होता है। कतिपय वैदिक छन्दों के लक्षण ग्रन्थों में छन्दों के भेद विषयक विविध मत मिलते हैं। यद्यपि ऋक्–प्रातिशाख्य आदि कुछ लक्षणग्रन्थों में दर्जनों छन्दों के नाम गिनाये गये हैं, तथापि कात्यायनाचार्य चौदह छन्द स्वीकार करते हैं– १. गायत्री २. उष्णिक् ३. अनुष्टुप् ४. बृहती ५. पङ्क्ति ६. त्रिष्टुप् ७. जगती (इन्हें 'छन्दः सप्तक' के नाम से जाना जाता है) ८. अतिजगती ९. शक्वरी १०. अतिशक्वरी ११. अष्टि १२. अत्यष्टि १३. धृति तथा १४. अतिधृति। इसी विचारधारा के पोषक ऋग्भाष्यकार वेंकटमाधव का कथन है–

'चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैश्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि।

इयन्ति दृष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति।।

अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका तथा पिङ्गलकृत छन्दःसूत्र आदि ग्रन्थों में इक्कीस छन्दों का उल्लेख है– पूर्वनिर्दिष्ट १४ छन्द, १५. कृति, १६. प्रकृति १७. आकृति १८. विकृति १९. सङ्कृति २०. अभिकृति तथा २१. उत्कृति।

ऋक्प्रातिशाख्यकार ने गायत्री से पूर्ववर्ती पाँच छन्दों की और चर्चा की है– मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा तथा समा, जो चार अक्षर से प्रारम्भ होकर चार–चार अक्षरों से बढ़ते हैं।

"मा प्रमा प्रतिमोपमा समा च चतुरक्षरात्।

चतुरुत्तरमुद्यन्ति पञ्चच्छन्दांसि तानि ह।।"[1]

---

[1] ऋक्प्रातिशाख्य, १७/१९

इस प्रकार प्रमुख वैदिक छन्दों के लक्षण ग्रन्थ में २६ छन्द प्राप्त होते हैं। इनमें प्रथम पाँच छन्दों मा, प्रमा आदि का व्यवहार नहीं होता। शेष इक्कीस ऋषिच्छन्दों के सात–सात छन्दों के तीन उपविभाग हैं। इन उपविभागों को 'छन्दःसप्तक' नाम दिया गया है। प्रथम सप्तक में गायत्री से जगती तक, दूसरे सप्तक में अति जगती से अतिधृति तक तथा तीसरे सप्तक में कृति से उत्कृति तक सात छन्द आते हैं। इनमें गायत्र्यादि छन्दः सप्तक ही प्रधान हैं, जिनमें अधिकाँश वैदिक मन्त्रों की रचना हुई है। गायत्र्यादि सात छन्दों में भी गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती छन्दों का ही प्रयोग सबसे अधिक मिलता है। वास्तव में गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन तीन छन्दों को ही वैदिक छन्दों का आधार माना जा सकता है, क्योंकि अधिकतर छन्दों के पाद अष्टाक्षर एकादशाक्षर तथा द्वादशाक्षर वाले हैं। शौनक तथा कात्यायन प्रभृति आचार्य भी उक्त तीन पादों गायत्र, त्रैष्टुभ तथा जागत को ही सब वैदिक छन्दों का आधार मानते हैं। जिन छन्दों के पाद अष्टाक्षर हैं, उनका मूल या जाति गायत्री छन्द है, क्योंकि गायत्री का एक पाद आठ अक्षरों का होता है। इसी प्रकार अन्य छन्दों के विषय में भी जानना चाहिये।

गायत्र्यादि छन्दःसप्तक में निम्नलिखित छन्दों का परिगणन होता है– १. गायत्री २. उष्णिक् ३. अनुष्टुप् ४. बृहती ५. पङ्क्ति ६. त्रिष्टुप् ७. जगती।[1] छन्दों के भेद–प्रभेदों का विवेचन करने वाले अनेक लक्षण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के विषय में आगे चर्चा की जायगी। यहाँ ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार ही छन्दःसप्तक का स्वरूप विवेचन किया जा रहा है–

१. **गायत्री** – गायत्री चौबीस अक्षरों की होती है। इसके आठ–आठ अक्षरों के तीन पाद होते हैं अथवा छः–छः अक्षरों के चार पाद हुआ करते हैं–

---

[1] ऋक्प्रातिशाख्य १७/२०

"गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा।

अष्टाक्षरास्त्रयः पादश्चत्वारः वा षडक्षरा।।"[1]

अष्टाक्षरा गायत्री का उदाहरण :–

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम्।।

षडक्षरा गायत्री :–

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि।

आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्।।

२. **उष्णिक्** :– उष्णिक् छन्द अट्ठाइस अक्षरों का होता है। यह तीन पादों वाला होता है। प्रथम दो पाद आठ–आठ अक्षरों वाले तथा तृतीय बारह अक्षरों वाला होता है–

अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभिः।

पूर्वावष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षरः।।[2]

उदाहरण –

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।

अस्मे धेहि जातवेदो महिश्रवः।।

३. **अनुष्टुप्** :– अनुष्टुप् छन्द ३२ अक्षरों का होता है। इसमें आठ–आठ अक्षरों के चार पाद हुआ करते हैं–

"द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः।"[3]

---

[1] ऋक्प्रातिशाख्य १६/१६

[2] ऋक्प्रातिशाख्य १६/२६

[3] ऋक्प्रातिशाख्य १६/३७

उदाहरण –

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठदशाङ्गुलम्।।

४. **बृहती** :– चतुष्पादात्मक बृहती छन्द में छत्तीस अक्षर हुआ करते हैं। तीन पादों में आठ–आठ अक्षर तथा तृतीय पाद में बारह अक्षर हुआ करते हैं–

"चतुष्पदा तु बृहती प्रायः षट्त्रिंशदक्षरा।

अष्टाक्षरास्त्रयः पादास्तृतीयो द्वादशाक्षराः।।[1]

उदाहरण –

मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत।

इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत।।

५. **पङ्क्ति** – पञ्चपादात्मक चालीस अक्षरों वाला छन्द पङ्क्ति है–

"पङ्क्तिरष्टाक्षराः पञ्च। "[2]

उदाहरण – इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।

तमिन्महत्त्वाजिषू तमर्मे हवामहे स वाजेषु प्रनोऽषिषत्

६. **त्रिष्टुप्** – यह चार पादों वाला छन्द है, जिसके पाद ग्यारह–ग्यारह अक्षर तथा कुल चौव्वालिस अक्षर हुआ करते हैं–

" चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुबक्षराणि चतुष्पदा एकादशाक्षरैः पादैः।।"[3]

उदाहरण –

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति यः ईं शृणोत्युक्तम्।

अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।।

---

[1] ऋक्प्रातिशाख्य १६/३७

[2] ऋक्प्रातिशाख्य १६/४५

[3] ऋक्प्रातिशाख्य १६/६४

७. **<u>जगती</u>** :– बारह–बारह अक्षरों वाले चार पादों से युक्त अड़तालिस अक्षरों वाला छन्द जगती कहलाता है–

"पञ्चाशज्जगती द्व्यूना चत्वारो द्वादशाक्षरा ।"[१]

उदाहरण –

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षविरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति।।

उपर्युक्त छन्दः सप्तक के भेद–प्रभेदों का भी उल्लेख वैदिक छन्दों का विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों में समुलब्ध होता है। यहाँ शौनक कृत ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार गायत्र्यादि छन्दः सप्तक के भेदोपभेदों की नामावली छन्द में कुल अक्षरों की संख्या के साथ दी जा रही है। उल्लेख्य है कि इन भेदों में से कतिपय भेदों में मूल गायत्री की अक्षर संख्या के बराबर अक्षर संख्या हुआ करती है और कुछ भेदों में एक–दो अक्षर कम तथा किन्हीं–किंन्हीं में तो तीन अक्षर तक कम या अधिक हुआ करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित है कि प्रत्येक मूल छन्द के भेदों में एक दो तथा तीन अक्षरों के कम या अधिक होने से यह कैसे जाना जा सकता है कि अमुक भेद अमुक छन्द का ही भेद है या यह कहें कि नामों में अनवस्था दोष प्रसक्त हो सकता है ? प्रश्न उठना स्वाभाविक है, किन्तु इसके उत्तर में केवल इतना कहा जा सकता है कि वैदिक छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के कथनानुसार ही जानना चाहिए।

---

[१] ऋक्प्रातिशाख्य १६/७४

नामावली

गायत्री :–

१. अतिनिचृद् गायत्री (६+६+७) = १९ अक्षर।

२. अतिनचृद् गायत्री (७+६+६) = २० अक्षर।

३. पादनिचृद् गायत्री (७+७+७) = २१ अक्षर।

४. पादनिचृद् वर्धमाना गायत्री (६+७+८) = २१ अक्षर।

५. वर्धमाना गायत्री (८+६+८) = २२ अक्षर।

६. द्विपदा गायत्री (१२+१२) = २४ अक्षर।

७. यवमध्या गायत्री (७+१०+७) = २४ अक्षर।

८. उष्णिग्गर्भा गायत्री (६+७+११) = २४ अक्षर।

९. पदपङ्क्ति गायत्री (४+६+५+५+५) = २५ अक्षर।

१०. भूरिग्गायत्री (८+१०+७) = २५ अक्षर।

११. पादपङ्क्ति गायत्री (५+५+५+५+६) = २६ अक्षर।

१२. भूरिक्पदपङ्क्ति गायत्री (५+५+५+६+६) = २७ अक्षर।

उष्णिक् :–

१३. ककुप्न्यङ्कुशिरानिचृदुष्णिक (११+१२+४) = २७ अक्षर।

१४. तनुशिरा उष्णिक् (११+११+६) = २८ अक्षर।

१५. पिपीलिकामध्योष्णिक् (११+६+११) = २८ अक्षर।

१६. अनुष्टुब्गर्भोष्णिक् (५+८+८+८) = २९ अक्षर।

अनुष्टुप् :–

१७. विराङ्नुष्टुप् (१०+१०+१०) = ३० अक्षर।

१८. काविरानुष्टुप् (६+६+१२) = ३० अक्षर।

१९. महापदपङ्क्तिरनुष्टुप् (५+५+५+५+५+६) = ३१ अक्षर।

२०. नष्टरूपानुष्टुप् (९+१०+१३) = ३२ अक्षर।

बृहती :–

२१. पिपीलिकामध्यावृहती (१३+८+१३) = ३४ अक्षर।

२२. विष्टारबृहती (८+१०+१०+८) = ३६ अक्षर।

२३. विषमपदाबृहती (९+८+११+८) = ३६ अक्षर।

पङ्क्ति :–

२४. विराट्पङ्क्ति (१०+१०+१०+१०) = ४० अक्षर।

त्रिष्टुप् :–

२५. विराट्स्थाना त्रिष्टुप् (९+९+१०+११) = ३९ अक्षर।

२६. विराट्स्थाना त्रिष्टुप् (९+१०+११+११) = ४१ अक्षर।

२७. विराट्स्थाना त्रिष्टुप् (१०+१०+९+११) = ४० अक्षर।

२८. विराट्पूर्वा त्रिष्टुप् (१०+१०+८+८+८) = ४४ अक्षर।

२९. पूर्वज्योतिषमती त्रिष्टुप् (८+१२+१२+१२) = ४४ अक्षर।

३०. पश्चाज्ज्योतिषमती त्रिष्टुप् (१२+१२+१२+८) = ४४ अक्षर।

३१. पूर्वमध्या ज्योतिषमती त्रिष्टुप् (९+९+१०+११) = ३९ अक्षर।

३२. पश्चान्मध्या त्रिष्टुप् (१२+१२+८+१२) = ४४ अक्षर।

३३. यवमध्या त्रिष्टुप् (८+८+१२+८+८) = ४४ अक्षर।

३४. अभिसारिणी त्रिष्टुप् (१०+१०+१२+१२) = ४४ अक्षर।

३५. महापङ्क्ति त्रिष्टुप् (८+८+७+६+७+९) = ४५ अक्षर।

३६. उपजगती त्रिष्टुप् (१२+१२+११+११) = ४६ अक्षर।

जगती

३७. महापङ्क्ति जगती (८+८+८+८+८+८) = ४८ अक्षर।

३८. महासतोबृहती जगती (८+८+८+१२+१२) = ४८ अक्षर।

द्वितीय छन्दः सप्तक :–

१. अतिजगती (१२+१२+१२+८+८) = ५२ अक्षर।

२. शक्वरी (८+८+८+८+८+८+८) = ५६ अक्षर।

३. अतिशक्वरी (१६+१६+१२+८+८) = ६० अक्षर।

४. अष्टि (१६+१६+१६+८+८) = ६४ अक्षर।

५. अत्यष्टि (१२+१२+८+८+८+१२+८) = ६८ अक्षर।

६. धृति (१२+१२+८+८+८+१६+८) = ७२ अक्षर।

७. अतिधृति (१२+१२+८+८+८+१२+८+८) = ७६ अक्षर।

तृतीय सप्तक :–

१. कृति = ८० अक्षर २. प्रकृति = ८४ अक्षर ३. आकृति = ८८ अक्षर

४. विकृति = ९२ अक्षर ५. सङ्कृति = ९६ अक्षर ६. अभिकृति = १०० अक्षर

७. उत्कृति = १०४ अक्षर।

इस प्रकार ऋक्प्रतिशाख्य के अनुसार छन्दोभेद निरूपण समाप्त हुआ।

वैदिक छन्दों के नामों की अर्थवत्ता :–

आचार्य यास्क ने अपने 'निरुक्त' में गायत्र्यादि वैदिक छन्दों की अर्थवत्ता पर प्रकाश डाला है, जिसके आधार पर अधोलिखित विवेचन प्रस्तुत है–

गायत्री – स्तुति अर्थ वाली 'गै' धातु से 'गायत्री' शब्द की सिद्धि होती है। इस गायत्री छन्द के द्वारा देवताओं की स्तुति की गयी है। इसीलिए इसे गायत्री छन्द कहते हैं अथवा इस गायत्री शब्द के तीन पाद हैं। 'त्रि' शब्द तथा 'गमन' शब्द को

उलटा कर देने पर गायत्री शब्द की सिद्धि होती है। अथवा गाते हुए ब्रह्मा के मुख से निरुक्तकार आचार्य यास्क का कथन है–

'गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा विपरीता।

गायतो मुखादुद्पतत् इति च ब्राह्मणम्।'[१]

उष्णिक् :– उष्णिक् छन्द में गायत्री छन्द की अपेक्षा चार अक्षर अधिक कहे गये हैं, इसीलिए इसको 'उष्णिक्' कहते हैं। अथवा इच्छार्थक 'ष्णिह्' धातु से उष्णिक् शब्द की सिद्धि होती है। उष्णिक् छन्द देवताओं को अधिक प्रिय है। अथवा गायत्री छन्द की अपेक्षा उष्णिक् छन्द में चार अक्षर अधिक होते हैं और ये चार अक्षर उष्णिक् छन्द के शिरोस्थानीय अर्थात् उष्णीष् (पगड़ी) के रूप में माने जाते हैं। अतः उष्णीष् की उपमा दी जाने के कारण इस छन्द को उष्णिक् की सञ्ज्ञा दी जाती है। आचार्य यास्क ने इसके नामकरण की सार्थकता इस प्रकार से सिद्ध की है–

'उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणीतेत्यौपमिकम्। उष्णीष स्नायतेः।'[२]

अनुष्टुप् :– 'अनुष्टुप्' छन्द अनुकरण करने से बनता है, किन्तु यह अनुकरण किसका किया जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि तीन पादों वाले गायत्री छन्द का अनुकरण चतुर्थ पाद से करता है। अतः इसका नाम अनुष्टुप् पड़ा–

'अनुष्टुबनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति'[३]

---

[१] निरुक्त ६/३

[२] वही

[३] वही

बृहती तथा पङ्क्ति – परिबृद्धि के कारण इसका नाम बृहती पड़ गया, क्योंकि बृहती छन्द में चार अक्षर अनुष्टप् छन्द से अधिक होते हैं– 'बृहती परिबर्हणात्।'[१] पाँच चरणों वाले छन्द को पङ्क्ति छन्द कहते हैं अर्थात् पाँच चरण होने के कारण इस छन्द को पङ्क्ति कहते हैं– 'पङ्क्ति पञ्चपदा।'[२]

त्रिष्टुप् – त्रिष्टुप् छन्द में 'स्तुभ' शब्द उत्तर भाग में पढ़ा गया है, इसीलिए इस छन्द को त्रिष्टुप् कहा गया है। पूर्वभाग में त्रिशब्द कहाँ से आ गया ? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह त्रिष्टुप् छन्द छन्दों के पार गया है अर्थात् अन्य छन्दों से अधिक विस्तृत है, इसीलिए इसके पूर्वभाग में 'त्रि' जोड़ा गया है। अथवा 'त्रिवृत्त' नामक वज्र की तीन बार इस छन्द में स्तुति की गयी है, इसीलिए इसको त्रिष्टुप् कहते हैं। आचार्य यास्क इसका व्याख्यान इस प्रकार करते हैं–

'त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्। तीर्णतम छन्दः। त्रिवृद्वज्रः। तस्य स्तोभतीति वा। यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम् इति विज्ञायते।'[3]

जगती – आगे गया हुआ अर्थात् सबसे अन्तिम छन्द होने के कारण इस छन्द का नाम जगती पड़ गया अथवा जल की तरङ्गों के समान इस छन्द का विस्तार किया गया है– 'जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा।'[४]

वैदिक छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ :–

वैदिक छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ निम्नलिखित हैं–

१. निदानसूत्र २. ऋक्प्रातिशाख्य तथा ३. कात्यायन की अनुक्रमणियाँ

---

[१] निरुक्त ७/३

[२] वही

[३] वही

[४] वही

१. **निदान सूत्र** :– निदानसूत्र के रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं। युधिष्ठिरमीमांसक के मतानुसार पतञ्जलि शौनक ऋषि के पूर्वकालिक हैं।[१] निदानसूत्र में दश प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में तेरह–तेरह खण्ड हैं। प्रथम प्रपाठक के प्रथम सात खण्डों में छन्दोंविषयक मत प्राप्त होता है, जिसके प्रथम छः खण्डों में छन्दों के लक्षण हैं और सातवें खण्ड में यतिविषयक वर्णन है। इस ग्रन्थ पर श्रीतातप्रसाद की 'तत्त्वसुबोधिनी' नामक वृत्ति प्राप्त होती है।

२. **ऋक्प्रातिशाख्य** – प्रातिशाख्य ग्रन्थों में ऋक्प्रातिशाख्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका दूसरा नाम 'पार्षदसूत्र' भी है। टीकाकार विष्णुमित्र के अनुसार ऋक्प्रातिशाख्य के लेखक शौनक ऋषि हैं तथा आश्वलायन के गुरु हैं।[२] ऋक्प्रातिशाख्य यास्ककृत निरुक्त तथा कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी के मध्य की रचना मानी जाती है। शौनक ऋषि की कृतियों में 'वृहद्देवता' महत्त्वपूर्ण रचना है।[3] बृहद्देवता में महर्षि शौनक ने निरुक्त के एक वाक्य को उद्धृत किया है तथा कात्यायन ने बृहद्देवता के कतिपय श्लोक थोड़े परिवर्तन के साथ ऋक्सर्वानुक्रमणी में समुद्धृत किया है। अतः महर्षि शौनक की यास्क से परवर्तिता तथा कात्यायन से पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

ऋक्प्रातिशाख्य में ऋग्वेद की प्राप्त शाकलशाखा की उपशाखा तैत्तिरीयशाखा का आद्योपान्त विवरण हैं। यह प्रातिशाख्य ऐतरेय आरण्यक के संहितोपनिषद् (तृतीयाख्यक) का अनुसरण करता है। इसमें अट्ठारह पटल हैं, जिनमें स्वरों, वर्णों, सन्धियों तथा छन्दों का मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के अन्तिम तीन सोलह, सत्रह तथा अठारह पटलों में छन्दों का वर्णन है।

---

[१] वैदिकच्छन्दोमीमांसा, पृ०– ५६

[२] बलदेव उपाध्याय– वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० ३७८

[3] Maldonell - History of Sanskrit Literature, Introduction 22

३. **ऋक्सर्वानुक्रमणी** :– आचार्य कात्यायन की अनुक्रमणियों में ऋक्सर्वानुक्रमणी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। यह सूत्रों में उपनिबद्ध है। इसमें पाणिनीय पदों की बहुलता है। इसलिये इसके रचयिता कात्यायन वर्तिकाचार्य कात्यायन से भिन्न ही हैं।[1] अधिसंख्य विद्वान् पिङ्गल को पाणिनि का समकालिक अथवा उनका अनुज स्वीकार करते हैं।[2] इसलिये ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन वार्तिककार कात्यायन से भिन्न होने के कारण पिङ्गल के पूर्वकालिक सिद्ध होते हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणी में अड़सठ छन्दों के भेदों का लक्षण प्राप्त होता है। इसमें कात्यायन ने प्रतिष्ठा, गायत्री आदि नौ छन्दों का लक्षण प्रस्तुत किया है। ये लक्षण पूर्वाचार्यों के ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होते।

इनके अतिरिक्त आचार्य पिङ्गल का छन्दःसूत्र, उपनिदान सूत्र, जयदेवच्छन्दः, वृत्तमुक्तावली आदि भी वैदिक छन्दों को विवरण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वैदिक छन्दों का प्रधान रूप से विवेचन करने वाले उपर्युक्त तीन ही ग्रन्थ हैं।

उपर्युक्त वैदिक छन्दों के सामान्य परिचयात्मक स्वरूप का पर्यालोचन करने पर एक बात सामने आती है और वह यह कि लौकिक छन्दों के बीज वैदिक छन्द में ही निहित है। वैदिक छन्दों का स्वरूप अक्षरगणना पर निर्भर करता है। लौकिक छन्दों में वार्णिक वृत्त भी अक्षर संख्या पर ही आधारित हुआ करते हैं। वैदिक छन्दों के अनुसार ही लौकिक छन्दों (वार्णिक) में कुल अक्षर संख्या चार–चार की संख्या से बढ़ती जाती है। लघु–गुरु का संयोजन–लौकिक छन्दों के स्वरूप का प्राणतत्त्व – भी वैदिक छन्दों में देखने को मिलता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम अनुष्टुप् छन्द को लेते हैं। ऋग्वेद के अन्तिम दशम मण्डल में जो अनुष्टुप् छन्द मिलता है, उसी

[1] बलदेव उपाध्याय – वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३५०–५१

[2] षड्गुरूशिष्यकृता पिङ्गल सूत्रटीका वेदार्थदीपिका ३/३३

में एक विशेषता परिलक्षित होती है और वह यह कि अनुष्टुप् के प्रथम तथा तृतीय पाद का सप्तम अक्षर प्रायेण गुरु तथा अष्टम लघु और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में पञ्चम तथा सप्तम अक्षर लघु, षष्ठ तथा अष्टम अक्षर प्रायेण गुरु होते हैं, यथा–

त्यं चिदश्वं न वाजिनमरेणवो यमत्नत।

दृळहं ग्रन्थिं न विष्यतमत्रिं यविष्ठमा रजः।।[1]

इसी प्रकार अग्रिम सूक्तों में भी उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त अनुष्टुप् दर्शनीय हैं। करूणार्द्रचेता महर्षि वाल्मीकि के मुख से सहसा प्रस्फुटित अनुष्टुप् छन्द इसी अनुष्टुप् छन्द का विकसित एवं परिनिष्ठित रूप है, जिससे लौकिक छन्द की प्रतिष्ठापना हुई। इसके अतिरिक्त अन्यान्य छन्दों के आधार भी वैदिक छन्द ही हैं, जैसा कि द्वितीय अध्याय में 'छन्द का उद्भव' शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार हम स्पष्टतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक छन्द ही लौकिक छन्द के उपजीव्य या आधारभूमि हैं।

<u>लौकिक छन्दों का विकास</u> :–

'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' कारण–कार्य के गुणों की व्याख्या करने वाली प्रकृत पङ्क्ति का सिद्धान्त छन्दों के विकास को भी इङ्गित करता है। दर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है कि कोई भी एक क्षण से अधिक अपने रूप में स्थिर नहीं रहता,[2] उसमें षड्विकारों के माध्यम से वृद्धि या क्षय अवश्य होता रहता है। छन्दों में परिवर्तन भी निरन्तर होते रहते हैं। ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद में छन्दों में परिवर्तन दिखायी देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अधिकतर यजुर्वेद के छन्दों का प्रयोग प्राप्त होता

---

[1] ऋग्वेद मण्डल–१०, सूक्त–१४३, मन्त्र–२

[2] प्रवृत्ति खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते, वर्धते वा, यावदनेन वर्धितव्यम्, अपायेन वा युज्यते, पातञ्जल महाभाष्य ४/१/३

है। उपनिषत् काल में ऋग्वेदीय छन्दों का प्रयोग होने लगा था। ये छन्द इतने प्रसिद्ध हुए कि इनकी भाषा को भी लोग छन्दस् कहने लगे। वैदिक छन्द स्वच्छन्द गति से चलते थे, इसीलिये उन छन्दों में निबद्ध भाषा को महर्षि पाणिनि ने 'छन्दस्' कहा। स्पष्ट है कि वैदिक भाषा अपने छन्दों के समान ही अनियमित व्याकरण आदि से अनिश्चित गतिविधि से स्वतन्त्र थी। उस पर किसी तरह का नियन्त्रण नहीं था, इसीलिए उसे 'छन्दस्' नाम दिया गया।

वैदिक संस्कृत के अतिरिक्त जो छन्द लौकिक भाषा के व्यवहार में आये, उन्हें लौकिक छन्द कहा गया। वैदिक छन्दों की स्वच्छन्द गति थी तथा लौकिक छन्दों की गति नियमाबद्ध है। अत एव यह कहा जा सकता है कि वैदिक छन्दों की अपेक्षा लौकिक छन्द विशेष नियमों में उपनिबद्ध हैं। वाल्मीकीय रामायण से पूर्व वैदिक साहित्य में वैदिक छन्दों का प्रयोग होता था, किन्तु वैदिक ग्रन्थों के बाद रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में लौकिक छन्दों का प्रयोग मिलता है, जिनकी आधारभूमि वैदिक छन्द हैं (यह स्पष्ट किया जा चुका है) जो विभिन्न नियमित अक्षरों में विकसित होकर भास और कालिदास की रचनाओं से लेकर अद्यावधि काव्यों में अबाध रूप से प्रयुक्त हो रहे हैं।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगविक्लान्त महर्षि वाल्मीकि लौकिक छन्दों के प्रथम कवि माने जाते हैं। जब वैदिक छन्दों का प्रवाह अवरूद्ध होने लगा, तब प्रुमख वैदिक छन्द गायत्री का विकसित रूप अनुष्टुप् अधिक तेजी से आगे बढ़ने लगा, जो ऋग्वेद के दशम मण्डल में प्रयुक्त अनुष्टुप् से उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ वाल्मीकीय रामायण में गोचर होता है और यही अनुष्टुप् लौकिक संस्कृत में अपरिवर्तित स्वरूप में प्रयुक्त हो रहा है। अतः ऋग्वेद के बाद लौकिक संस्कृत में सर्वप्रथम छन्दस्कार के रूप में

वाल्मीकि हमारे स्मृति पटल पर आते हैं, तथा छन्दों में अनुष्टुप् छन्द प्रथम छन्द के रूप में नवीन अवतार लेता है।

वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के अतिरिक्त अति प्राचीन अन्य काव्य ग्रन्थों के प्राप्त न होने पर पिङ्गल आदि छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में रामायण और महाभारत में प्रयुक्त छन्दों के अतिरिक्त जिन छन्दों के लक्षण मिलते हैं, उनमें से अधिकांश छन्द कालिदास, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष आदि महाकवियों की कृतियों में प्रयुक्त हो चुके है।

प्रत्येक छन्दोलक्षण–ग्रन्थ में छन्दों के निर्माण के लिये प्रस्तारादि प्रत्यय का वर्णन किया गया है, जिससे एकाक्षरा उक्ता नामक जाति से षड्विंशत्यक्षरा उत्कृति नामक जाति पर्यन्त एक–एक अक्षर की वृद्धि कर पूर्णपद्य में चार–चार अक्षरों की वृद्धि से तथा मगण आदि अष्टगणों तथा गुरु–लघु के क्रम को बदल देने से दूसरे स्वरूप वाले छन्द का रूप विकसित होता है। छन्दों के निर्माण का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि 'शालिनी' छन्द में प्रारम्भिक चार वर्णों के बाद और अन्तिम सात वर्णों से पूर्व छः वर्ण (पाँच लघु तथा एक गुरु) जोड़ देने से मन्दाक्रान्ता का छन्द बन जाता है, इसी तरह उपेन्द्रवज्रा छन्द में ही अन्तिम वर्ण से पूर्व एक लघु वर्ण की योजना से वंशस्थ का रूप विकसित होता है–

'मन्दाक्रान्ता भवेन्मध्ये शालिनी पूरिताक्षरा।

उपेन्द्रवज्रं वंशस्थं पर्यन्तैकाक्षराधिकम्।।'[१]

यदि इन्द्रवज्रा छन्द के लक्षण में प्रारम्भिक गुरु के स्थान पर 'लघु' रख दिया जाये, तो वह उपेन्द्रवज्रा का स्वरूप विकसित हो जाता है। एक उदाहरण और दिया जा रहा है–

---

[१] सुवृत्ततिलक, विन्यास– द्वितीय, पद्य–४४

प्रमाणिका छन्द का स्वरूप – ज (।ऽ।) र (ऽ।ऽ) ल (।) ग (ऽ)

समानिका छन्द का स्वरूप – र (ऽ।ऽ) ज (।ऽ।) ग (ऽ) ल (।)

दोनों लक्षणों को देखने से यह ज्ञात होता है कि गण एवं लघु–गुरु के व्यतिक्रम से छन्द के स्वरूप निर्मित हुए हैं।

उपर्युक्त विकास प्रक्रिया के पर्यालोचन से पता चलता है लौकिक छन्दों के विकास क्रम में अक्षरों की वृद्धि के साथ–साथ गणों एवं लघु–गुरु के व्यतिक्रम की प्रणाली प्रधान थी।

वैदिक छन्द की आधारभूमि में लौकिक छन्द का विस्तृत वितान पल्लवित हुआ। अन्य शब्दों में, वैदिक छन्दों को ही आधार मानकर लौकिक छन्दों में किन–किन रूपों का विकास हुआ, इसका विवेचन किया जा रहा है–

लौकिक छन्दों के भेद–विवेचन के सन्दर्भ में हम विविध भेद विषयक विविध मतों की चर्चा करेंगे–

कतिपय छन्दःशास्त्रीय आचार्य छन्द को चतुर्धा विभक्त करते हैं– अक्षरच्छन्द, मात्राच्छन्द, अक्षरगणच्छन्द तथा मात्रागणच्छन्द। जहाँ पर मात्राओं के न्यूनातिरेक होने पर अक्षर का संख्यान हो, वहाँ अक्षरच्छन्द होता है, यथा–गायत्री, त्रिष्टुप्, आदि वैदिक छन्द इस श्रेणी में आते हैं। जहाँ अक्षरों के न्यूनातिरेक होने पर मात्राओं का संख्यान हो, वहाँ मात्राच्छन्द होता है, यथा–वैतालीय, औपच्छन्दसिक आदि। अक्षर गणच्छन्द वहाँ होता है, जिसमें अक्षरगणों का क्रमशः लघु–गुरु आदि की व्यवस्था रहती है, यथा–इन्द्रवज्रा आदि। चतुर्थ भेद मात्रागणच्छन्द वह है, जहाँ मात्रागणों का क्रमशः सन्निवेश हो, यथा–आर्या आदि।

दूसरा मत छन्द को तीन भागों में विभाजित करता है– वैदिक, लौकिक तथा उभयसाधारण। यह वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत के पद्यरचना–नियम के आधार पर किया जान पड़ता है।

तीसरा मत भी छन्द को त्रिधा विभक्त करता है। उनके अनुसार तीन भेद ये हैं– गणच्छन्द, मात्राच्छन्द तथा अक्षरच्छन्द।

चतुर्थ मत छन्द के दो भेद स्वीकार करता है– वर्ण वृत्त (वर्णच्छन्द) तथा जाति वृत्त (मात्राच्छन्द)

इस प्रकार छन्द के भेद विषयक मतों को देखने पर स्पष्ट होता है कि किन्हीं ने चार भेद माने तो किन्हीं ने तीन और कतिपय आचार्यों ने दो भेद स्वीकार किये हैं। इस विषय में आचार्य यज्ञेश्वर शर्मा का स्पष्ट विचार है कि छन्द के दो भेद हैं– वृत्त शब्द से व्यपदेश्य वर्णवृत्त तथा दूसरा जाति शब्द से व्यपदेश्य मात्रावृत्त।[1]

उपर्युक्त छन्दों के भेद–विषयक मत–मतान्तरों का विश्लेषण करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि छन्द के वस्तुतः दो ही भेद मानना युक्ति सङ्गत है– वर्णच्छन्द (वृत्त) तथा मात्राच्छन्द (जाति), क्योंकि वर्णच्छन्द में ही गणच्छन्द, अक्षरच्छन्द एवं अक्षरगणच्छन्द का समावेश हो जाता है, अतः अन्य भेद अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या 'छन्द' और 'वृत्त' एक दूसरे के पर्यायवाची हैं, जैसा कि छन्द के भेद प्रदर्शन में आचार्यों ने माना है ? उत्तर यह है कि 'छन्द' और 'वृत्त' एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं है, क्योंकि वृत्त छन्द का एक भाग है, न कि अपर नाम। इसे हम इस

---

[1] तदित्थं क्वचिद्विशेषमाश्रित्य त्रेधा चतुर्धा वा विभक्तानामप्येषां मात्रागणव्यवस्थानि बन्धनेषु गणवृत्तेषु वर्णव्यवस्थासमान्याद्वर्णवृत्तानतिरेकं पश्यन्ति दीर्घदर्शिनः। तथा च सिद्धम्– वृत्तशब्देन व्यपदेश्यं वर्णवृत्तमेकम्, जातिशब्देन व्यपदेश्यं तु मात्रावृत्तमपरमितीत्थं द्वेधा पद्यच्छन्दो भवतीति।
– छन्दःशास्त्र की भूमिका, पृ०–४८

तरह कह सकते हैं कि 'छन्द' एक वृक्ष है, तो 'वृत्त' उसकी एक शाखा। हाँ, इतना अवश्य है कि वर्णच्छन्द (वृत्त) संस्कृत महाकवियों में अत्यधिक लोकप्रियता को प्राप्त हुआ, जिसकारण 'छत्रिन्यायेन' 'वृत्त' शब्द 'छन्द' का पर्याय कह दिया जाता है, वस्तुतः है नहीं।

छन्द के प्रमुख दो भेद –

छन्द के प्रमुख दो ही भेद हैं– वृत्त छन्द (वार्णिक) तथा जाति छन्द (मात्रिक)।[1] जहाँ एक ओर वृत्त छन्द में वर्णों का नियमन होता है, वहीं मात्रिक छन्द में मात्राओं का नियमन होता है। इन्द्रवज्रा आदि छन्द वृत्त छन्द या वार्णिक छन्द के अर्न्तगत आते हैं, क्योंकि इनका स्वरूप लक्षण वर्णगणों के आधार पर किया जाता है, जबकि आर्यादि जाति छन्द या मात्रिक छन्द हैं, क्योंकि इनका स्वरूप लक्षण मात्रागणों के आधार पर किया जाता है। वृत्त में तीन वर्णों का गण होता है, जबकि जाति में चार मात्राओं का गण होता है, यथा–जगण (। ऽ ।) में तीन वर्ण हैं, किन्तु मात्रायें चार, क्योंकि गुरू की दो मात्रायें हुआ करती हैं। वृत्त में गुरु–लघु की व्यवस्था क्रमशः नियत है, जबकि जाति में नियत नहीं। हाँ, अंशतः देखी जाती हैं।

वार्णिक छन्द तथा मात्रिक छन्द प्रत्येक के सम, अर्द्धसम तथा विषम भेद होते हैं। छन्द के भेद के प्रदर्शन में आचार्यों ने 'वृत्त' शब्द को छन्द सामान्य मानकर 'वृत्त' और 'जाति' दोनों का बोधक स्वीकार किया है। धरानन्द शास्त्री ने वृत्तरत्नाकर की एतत् सम्बन्धी व्याख्या में लिखा है कि –

"परमत्र समविषमभेदकरणे वृत्तशब्दः छन्दः सामान्यपरः न केवलं वर्णवृत्तस्यैव समादयो भेदा भवन्ति, अपितु मात्रिकवृत्तानामपि।"[2]

---

[1] पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा –छन्दोमञ्जरी ६/४

[2] वृत्तरत्नाकर, प्रथम अध्याय, पृ०–१५ मोतीलाल बनारसी दास

जिस छन्द के चारों चरण सामान्य लक्षण से युक्त होते हैं, उसे समछन्द कहते हैं, यथा – इन्द्रवज्रा आदि। अर्द्धसम छन्द वहाँ होता है, जिस छन्द में तीसरा चरण प्रथम चरण के समान तथा चतुर्थ चरण द्वितीय चरण के समान होता है तथा जिस छन्द के प्रत्येक चरण अलग अलग लक्षणों से युक्त हों, वे विषम छन्द कहलाते हैं।

छन्द के प्रमुख दो भेदों के विषय में सामान्य जानकारी हो जाने के बाद अपेक्षित होने के कारण अलग–२ विवेचन किया जा रहा है–

जाति (मात्रिक) छन्द :– आर्यादि के विविध रूप –

मात्रिक छन्द के तीन भेद हैं – सम, अर्द्धसम एवं विषम। सममात्रिक छन्द का उदाहरण –

८ मात्रा र ल गु
। । । ऽ।।। ऽ । ऽ । ऽ
स्थिरविलासनतमौक्तिकावली, कमलकोमलाङ्गी मृगेक्षणा।

हरति कस्य न कामिनः सुरतकेलिकुशलाऽपरान्तिका।।

प्रकृत छन्द मात्रिक सम छन्द 'अपरान्तिका' का उदाहरण है, क्योंकि इसके प्रत्येक चरण समान लक्षण से युक्त हैं। प्रत्येक चरण में सोलह–सोलह मात्रायें हैं तथा चतुर्थ एवं पाँचवी मात्रा संयुक्त हैं । शायद इसी छन्द ने हिन्दी में आकर 'चौपाई' छन्द का रूप लिया होगा।

अर्द्धसम मात्रिक छन्द का उदाहरण –

६ मात्रा र ल गु ८ मात्रा र ल गु
। । ऽ। । ऽ। ऽ । ऽ। । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
घुसृणेन मदेन चर्चितं तव यन्निन्दति राधिके कुचम्।

मुदमातनुतेऽत्र पाकिनं तद् वैतालीयं फलं हरे :।।

आलोच्य छन्द वैतालीय नामक अर्द्धसममात्रिक छन्द हैं, क्योंकि इसके विषम–विषम तथा सम–सम चरण समान हैं।

विषम मात्रिक छन्द :–

विषम मात्रिक छन्द में 'विषम' सञ्ज्ञा अन्वर्थक है। यहाँ विषम का अर्थ – जो सम न हो। इसी कारण अर्द्धसम का भी निषेध हो जाता है, क्योंकि इसमें भी कुछ न कुछ समानता रहती ही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो सम और अर्द्धसम दोनों न हो, वह विषम है, यथा–आर्या छन्द।

आर्या छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में बारह–बारह मात्रायें तथा द्वितीय चरण में अट्ठारह एवं चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्रायें हुआ करती हैं–

"यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।[1]

अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।।

अतः स्पष्ट है कि यह न तो सम है और न अर्द्धसम ही, क्योंकि विषम चरण तो समान हैं, किन्तु सम चरण समान नहीं है। इसलिये यह 'विषम' मात्रिक छन्द हुआ। प्रधान–आर्या के सभी रूप विषम मात्रिक छन्द के हैं।

मात्रा छन्दों में सबसे प्रमुख छन्द है– आर्या। प्राकृत में भी एक ऐसा ही छन्द होता है, जिसका नाम गाथा है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि 'गाथा' ही प्राचीन छन्द है और वही संस्कृत में आकर 'आर्या' के नाम से जाना गया। आर्या के सामान्य लक्षण[2] के विषय में छन्दः शास्त्रीय आचार्यों का कथन है कि यह आर्या वहाँ होती है, जिसके पूर्वार्द्ध – प्रथम एवं द्वितीय चरण– में चतुर्मात्रिक सात गण और एक गुरू

---

[1] श्रुतबोध, पद्य–४

[2] पिङ्गल छन्दः सूत्र 'अत्रायुङ् न ज् (४/१५), षष्ठो ज् (४/१६) न्लौ वा (४/१७), न्लौ चेत्पदं द्वितीयादि (४/१८), सप्तमः प्रथमादि (४/१६) अन्त्ये पञ्चमः (४/२०), षष्ठश्च ल् (४/२१)

वर्ण होता है अर्थात (७ x ४ + २) = ३० मात्रायें होती हैं। इस आर्या के चार मात्रा वाले इन सात गणों के विषम गणों– प्रथम, तृतीय, पञ्चम एवं सप्तम – में जगण (। ऽ ।) नहीं आना चाहिये।

१. यदि आर्या के पूर्वार्द्ध में छठें गण में चार लघु हों तो दूसरे लघु के पहले ही यति होगी अर्थात् पहले लघु के अन्त में यति युक्त पद होगा।
२. यदि सातवें गण में चार लघु वाला गण हो, तो प्रथम लघु के पहले अर्थात् छठें गण के अन्त में यति होगी।
३. चरम अर्द्ध (उत्तरार्द्ध) के पाँचवें गण की जगह चार लघु हो, तो वहाँ भी प्रथम लघु के पहले अर्थात् चतुर्थ गण के अन्त में यति होगी।

आर्या के पूर्वार्द्ध की तरह उत्तरार्द्ध में भी सात गण एवं एक गुरू होता है। अन्तर केवल इतना है कि पूर्वार्द्ध में छठाँ गण चार मात्रा वाला (। ऽ । या ।।।।) होता है, वहीं उत्तरार्द्ध में केवल एक लघु वाला। अतः उत्तरार्द्ध में तीन मात्रा कम होने के कारण २७ मात्रायें ही हुआ करती हैं, यथा–

ऽ ऽ। ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ। । ऽ । । । । । । ऽ ऽ
वृन्दावने सलीलं वल्गुद्रुमकाण्डनिहिततनु यष्टिः।
ऽ।। ऽ।। ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ ऽ
स्मेरमुखार्पितवेणुः कृष्णो यदि मनसि कः स्वर्गः।।

प्रकृत स्थल में आर्या के पूर्वोक्त सभी नियम घटित हो रहे हैं, अतः यह आर्या छन्द है।

<u>आर्या के विविध रूप</u> :– छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में आर्या के कितने रूप विकसित हुए, इस सम्बन्ध में पिङ्गल कृत छन्दः शास्त्र की हलायुध वृत्ति[1] में कहा गया है–

---

[1] पृष्ठ – ५१

"एकैव भवति पथ्या तिस्रो विपुलाश्चतस्र एवं ताः।
चपलाभेदैस्त्रिभिरपि भिन्ना इति षोडशार्याः स्युः।।
गीतिचतुष्टयमित्थं प्रत्येकं षोडशप्रकारं स्यात्।
साकल्येनार्याणामशीतिरेवं विकल्पाः स्युः।।"

आर्या के मुख्यतः नौ रूप होते हैं– पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला, जघनचपला, गीति, उपगीति, उद्गीति तथा आर्यागीति। छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के विविध रूपों के प्रदर्शन में नवधा विभक्त आर्या को दो प्रकरणों में बाँटा गया है। प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत प्रधान आर्या है, जिसमें पथ्या, विपुला तथा चपलात्रय का समावेश है, तथा दूसरा गीति प्रकरण है, जिसमें गीति, उपगीति, उद्गीति तथा आर्यागीति का सङ्कलन है।

प्रधान आर्या में सर्वप्रथम पथ्या आर्या आती है। पथ्या वह आर्या है, जिसके दोनों दल अर्थात् पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में आरम्भ के तीन गणों के अन्त में एक पाद होता है[1] अर्थात् विषम चरण बारह–बारह मात्राओं वाले तथा द्वितीय चरण में अट्ठारह मात्रायें तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्रायें हुआ करती हैं, क्योंकि आर्या के पूर्वार्द्ध में तीस मात्रायें तथा उत्तरार्द्ध में सत्ताइस मात्रायें होती हैं। आर्या सामान्य के लक्षण–परीक्षण में दिया गया उदाहरण ही इसका उदाहरण हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य उदाहरण–

ऽ ऽ । ऽ ।।। ऽ ऽ ऽ ।। । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ
शुद्धान्तदुर्लभमिदं रूपं यदि वनवासिनो जनस्य।[2]
ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ ऽ ऽ।। ऽ ।।। ऽ ऽ
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।।

---

[1] त्रिषु गणेषु पादः पथ्याद्ये च – पि० सू० ४/२२
[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् अङ्क–१, पद्य–१७

प्रकृत स्थल पथ्यार्या का है, क्योंकि चतुर्मात्रिक तीन गणों के बाद दूसरा पाद शुरू होता है।

विपुला – विपुला आर्या वहाँ होती है, जहाँ दोनों दलों में प्रारम्भ के तीन गणों में ही पाद का विश्राम नहीं होता, अपितु लाँघकर अर्थात् आगे बढ़कर दूसरा पाद शुरू होता है।[1]

यहाँ यद्यपि पाद की समाप्ति के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया, किन्तु प्रत्यासत्तिवशात् चतुर्थ गण पर पाद की समाप्ति मानी जा सकती है। इसके बावजूद चतुर्थ गण के आदि में या अन्त में या अन्यत्र कहाँ पर पाद की समाप्ति हो, यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना ही रहता है। तात्पर्य यह है कि पथ्यार्या में तीन गणों पर पाद की समाप्ति होती है, इसमें ऐसा नहीं होना चाहिये। यथा–

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । । । । ऽ ऽ ऽ
स्निग्धच्छाया लावण्यलेपिनी किञ्चिदवनतघ्राणा।
।। । । ऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ। ऽ ऽ ऽ
मुखविपुला सौभाग्यं लभते स्त्रीत्याह माण्डव्यः।।

आर्या के प्रकृत स्थल में पाद की समाप्ति तीसरे गण से आगे बढ़कर 'पि' पर हुई है, अतः यह विपुला आर्या है। विपुला का लक्षण पूर्वार्द्ध अर्थात् पहले घटित हुआ है, अतः यह आदि विपुला या मुखविपुला है।

चपला – चपलार्या वह है, जिस आर्या छन्द के दोनों दलों (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध) में द्वितीय एवं चतुर्थगण जगण के स्थल हों और वह जगण दो गुरुओं के मध्य में हो।[2] अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि चपला में प्रथम गण अन्त गुरु वाला,

---

[1] विपुलान्या, पि० सू० (४/२३)

[2] चपला द्वितीयचतुर्थौ ग्मध्ये जौ, (पि० सू० ४/२४)

द्वितीय जगण, तृतीय दो गुरु वाला, चतुर्थ जगण तथा पञ्चम आदि गुरु वाला गण होता है। इस छन्द में पाद की समाप्ति के लिए आर्या सामान्य का लक्षण लागू होता है।

यथा –

। । ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ
चपला न चेत् कदाचिन्नृणां भवेद्भक्तिभावना कृष्णे।

ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ
धर्मार्थकाममोक्षास्तदा करस्था न सन्देहः।।

आलोच्य छन्द में द्वितीय तथा चतुर्थ गण दोनों दलों में जगण के स्थल हैं तथा ये दो गुरुओं के मध्य में भी है, अतः यह चपला आर्या हुई।

गीतिप्रकरण :–

गीति – गीति प्रकरण में सर्वप्रथम गीति मात्रिक छन्द के स्वरूप विवेचन के सन्दर्भ में आचार्यों का यह कथन है कि जिस मात्रिक छन्द के दोनों दल आर्या सामान्य के पूर्वार्द्ध के लक्षण से युक्त हों तथा यति की भी व्यवस्था ज्यों की त्यों हो, तो वह 'गीति' कहलाता है।[1] यथा –

। । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ । । । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ
मधुर वीणारणितं पञ्चमसुभगश्च कोकिलालापः।

ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ । । ऽ
गीतिः पौरवधूनां सुप्तं कुसुमायुधं प्रबोधयति।।

इस छन्द के दोनों दल आर्या सामान्य के लक्षण से युक्त हैं। अतः यह गीति नामक मात्रिक छन्द हुआ। इस छन्द के विषम–विषम तथा सम–सम चरण समान हैं अर्थात् प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह–बारह मात्रायें तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में अट्ठारह–अट्ठारह मात्रायें हैं, अतः यह अर्द्धसम मात्रिक छन्द भी है। दोनों दलों में

---

[1] आद्यर्द्धसमागीति :– पि०सू० ४/२८

यति के स्थल समान होने के कारण श्रुतिसुखद होता है, इसीलिये आचार्यों ने इसे 'गीति' नाम दिया है। आजकल गेयता धर्म से युक्त होने वाले छन्द भी 'गीति' के नाम से जाने जाते हैं। हिन्दी के 'गीतिका' तथा 'हरिगीतिका' आदि छन्दों का नामकरण भी इसी कारण हुआ होगा।

उपगीति– आर्या सामान्य के उत्तरार्द्ध (अन्त्य दल) का लक्षण जिस छन्द के दोनों दलों में पाया जाता है, वह 'उपगीति' छन्द है[1], यथा–

॥ऽ।ऽ।ऽऽ ऽऽ ऽऽ ।ऽऽऽ
नवगोपसुन्दरीणां रासोल्लासे मुरारातिम्।
ऽ ऽ।।।।ऽऽ ऽ।।ऽऽ।ऽ ऽऽ
अस्मारयदुपगीतिः स्वर्गकुरङ्गीदृशां गीतेः।।

प्रकृत छन्द के दोनों दल आर्या सामान्य के उत्तरार्द्ध के लक्षण से युक्त हैं, अतः यह उपगीति नामक आर्या हुई। यह अर्द्धसम मात्रिक छन्द है, क्योंकि विषम–विषम चरण बारह–बारह मात्राओं तथा सम–सम चरण पन्द्रह–पन्द्रह मात्राओं से युक्त हैं।

उद्गीति :– उद्गीति नामक आर्या छन्द का निर्माण तब होता है, जब आर्या सामान्य का व्यतिक्रम हो जाता है, अर्थात् आर्या सामान्य का पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध बन जाय तथा उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध बन जाय या यह कहें कि आर्या सामान्य को जब उलट देतें हैं, तब 'उदगीति'[2] का रूप निर्मित हो जाता है, यथा–

ऽऽ।ऽ। ऽ।।ऽऽऽ ऽ।ऽऽ ऽ
नारायणस्य सन्ततमुद्गीतिः संस्मृतिर्भक्त्या।
ऽऽऽऽऽऽऽ।।ऽऽ।ऽ।ऽ।।ऽ
अर्चायामासक्तिर्दुस्तरसंसारसागरे तरणिः।।

---

[1] अन्त्येनोपगीतिः. पि०सू० ४/२६

[2] उत्क्रमेणोद्गीतिः पि०सू० ४/३०

प्रकृत स्थल आर्यासामान्य के लक्षण का व्यतिक्रम हो जाने के कारण 'उद्‌गीति' का है। यह छन्द भी आर्या सामान्य की तरह विषम मात्रिक छन्द है। दल परिवर्तन के कारण ही आर्या का यह स्वरूप विकसित हुआ।

आर्यागीति :– जिस छन्द के पूर्वार्द्ध में चतुर्मात्रिक आठ गण पूरे–पूरे बनें या यह कहें कि आर्या सामान्य के पूर्वार्द्ध में एक गुरु और बढ़ा दिया जाये तथा उत्तरार्द्ध वृद्धि सहित पूर्वार्द्ध का रूप ले ले तब वह 'आर्यागीति' छन्द का स्वरूप ले लेता है।[1] इसके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में बत्तीस–बत्तीस मात्रायें होती हैं। यथा–

ऽऽऽ। । । । ऽ । ऽ। ऽ ऽ । ऽ । ऽ । । ऽ ऽ
हर्षाश्रुस्तिमितदृशः प्रमोदरोमाञ्चकञ्चुकाञ्चितदेहाः।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ। । । ऽ ऽ ऽ
आर्यागीतिं भक्त्या गायन्ति श्रीपतेश्चरितसम्बद्धाम्।

इस छन्द के दोनों दलों में पूरे–पूरे आठ गण बन रहे हैं, अतः यह आर्यागीति छन्द हुआ। यह अर्द्धसममात्रिक छन्द है।

आर्या के विविध रूपों का विवेचन :–

आर्या के विविध रूपों के विवरण के सन्दर्भ में हमने देखा कि मात्रा–प्रस्तार की प्रक्रिया से गुजरते हुए विविध रूप विकसित होते हैं, जिनका विवेचन किया जा रहा है–

पथ्या एक ही प्रकार की होती है। महाकवियों ने प्रायः इसी आर्या छन्द का प्रयोग किया है। दलों में लक्षण स्थिति के कारण 'विपुला' तीन प्रकार की होती है–

आदिविपुला – जिसके पूर्वार्द्ध में लक्षण घटित हो, वह आदिविपुला है। पहले होने के कारण इसे मुखविपुला भी कहा जाता है।

---

[1] अर्धेवसुगण आर्यागीति : – पि०सू० ४/३१

अन्तविपुला – उत्तरार्द्ध में लक्षण स्थित होने पर अन्तविपुला होती है। इसे जघनविपुला भी कहते हैं, क्योंकि यह बाद में या अन्त में होती है।

उभयविपुला – जिस आर्या के दोनों दलों में विपुला का लक्षण स्थित हो, वह उभयविपुला या महाविपुला आर्या कही जाती है। यहाँ तक प्रधान आर्या के चार भेद निर्धारित हुए।

इसके बाद विपुला की ही तरह चपला के भी तीन भेद होते हैं– मुख चपला, जघन चपला, तथा महाचपला। जिसके पूर्वार्द्ध में चपला होती है, वह मुख चपलार्या कही जाती है। जघन चपला वहाँ होती है, जहाँ आर्या के उत्तरार्द्ध में चपला का लक्षण स्थित हो। जब दोनों दलों में चपला का लक्षण स्थित हो, तो वह महाचपला आर्या होती है। पथ्यादि के साथ मिलकर चपला के बारह स्वरूप निर्मित होते हैं। इस प्रकार ४+१२ = १६ रूप प्रधान आर्या के विकसित होते हैं।

तत्पश्चात् गीति, उपगीति, उद्गीति तथा आर्यागीति इस गीति चतुष्टय आर्या के भी प्रधान आर्या के समान पथ्यादिक सोलह–सोलह रूप निर्मित होते हैं, अतः गीत्यादि के कुल १६ X ४ = ६४ रूप होते हैं, तथा प्रधान आर्या के १६ रूप। इस प्रकार आर्या के कुल ६४ + १२ = ८० रूप विकसित होते हैं।

प्रश्न उठता है कि पथ्यादि को प्रधान आर्या क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर इस रूप में दिया जा सकता है कि पथ्या, विपुला, चपला आदि का स्वरूप आर्या सामान्य के लक्षण में ही पाद एवं मात्रा गणों की स्थिति से निर्मित होते हैं, जबकि गीतिचतुष्टय के स्वरूप के निर्माण में या तो आर्या सामान्य का पूर्वार्द्ध ही दोनों दलों में होता है या उत्तरार्द्ध ही या कहीं व्यक्तिक्रम हो जाता है। स्पष्ट है कि गीति चतुष्टय में पूरा का पूरा आर्या सामान्य का लक्षण नहीं उपस्थित होता। यही कारण है कि पथ्यादि को प्रधान आर्या कहा जाता है।

आर्याओं के अतिरिक्त छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में दूसरे बहुत से मात्रिक छन्दों का विवेचन सोदाहरण किया गया है, जिनमें वैतालीय प्रकरण के अन्तर्गत वैतालीय, औपच्छन्दसिक, आपातलिका, दक्षिणान्तिका, उदीच्यवृत्ति, प्राच्यवृत्ति, प्रवृत्तक, अपरान्तिका, चारुहासिनी, मात्रिकसम प्रकरण में अचलधृति, मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका, चित्रा, उपचित्रा, पादाकुलक, द्विखण्डक छन्दों– जिनमें पादव्यवस्था नहीं होती, केवल दो दल या खण्ड ही होते हैं– के अर्न्तगत शिखा, खञ्जा, अनङ्गक्रीड़ा, अतिरुचिरा आदि छन्द प्रमुख हैं। मात्रिक छन्दों में ही वार्णिक वृत्तों में आठवीं जाति के अनुष्टुप् जाति के छन्दों का भी उल्लेख है। मात्रिक छन्दों में इसका उल्लेख यद्यपि कुछ अप्रासङ्गिक जैसा प्रतीत होता है, फिर भी वर्णवृत्तों की तरह वर्णों या गुरु, लघु का संयोजन नियत नहीं है।

उपर्युक्त मात्रिक छन्दों के भेद–प्रभेदों के विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट होता है संस्कृत–छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित मात्रिक छन्दों के तीन वर्ग सामने आते हैं– आर्या वर्ग, वैतालीय वर्ग तथा मात्रासमक वर्ग। इन्हें क्रमशः विषम, अर्द्धसम एवं सममात्रिक छन्द कहा जा सकता है।

आर्या वर्ग के छन्दों में विशिष्ट गण–स्थानों को छोड़कर अन्य गण–स्थानों में कोई भी चतुर्मात्रिक गण–स्वरूप का प्रयोग किया जा सकता है अर्थात् गण–योजना में लघु–गुरु क्रम का प्रतिबन्ध इन गणों में समान्यतः नहीं रहता। मात्रिक छन्दों की मूलभूत इस स्वच्छन्दता और सुगमता के कारण आर्या छन्द को संस्कृत कवियों ने अपनी कृतियों में भूरिशः प्रयोग किया है। संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में विवेचित अर्द्धसम मात्रिक छन्दों में वैतालीय प्रमुख है। यह मिश्रित प्रकृति का मत्रिक छन्द है, जिसमें अंशतः मात्राओं तथा अंशतः वार्णिक त्रिकों को उपयोग होता है। इस छन्द के पाद के पूर्ववर्ती पादांश द्वारा यह ध्वनित होता है कि इस छन्द का मूल स्रोत लोक के बीच

ढूँढ़ना उचित होगा, क्योंकि इसका सम्बन्ध लोक सङ्गीत से कभी न कभी अवश्य रहा होगा। प्रारम्भिक अंशों में द्वैमात्रिक इकाइयों की आवृत्ति द्वारा ताल का निर्माण होना इस बात को पुष्ट करता है। इसके नाम की अर्थवत्ता भी इस ओर सङ्केत करती है कि इस छन्द का सम्बन्ध ताल–सङ्गीत से मुक्त (वि + ताल) है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह छन्द कभी ताल–सङ्गीत से युक्त भी रहा होगा। मात्रासमक चतुष्पदी मात्रिक छन्द का प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी सञ्ज्ञा अन्वर्थक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस छन्द की पङ्क्तियाँ मात्राओं की दृष्टि से समान है, वर्णों की दृष्टि से नहीं । मात्रासमक के प्रत्येक पाद में सोलह–सोलह मात्रायें हुआ करती हैं, जो चार चतुर्मात्रिक इकाइयों के रूप में विभक्त होती है। अनुमान है कि इसी छन्द से हिन्दी का चौपाई छन्द विकसित हुआ होगा, यह बात इसके पहले स्पष्ट की जा चुकी है।

इनके अतिरिक्त आचार्य पिङ्गल, केदारभट्ट आदि आचार्यों मात्रिक अनुष्टुप् का भी विवेचन किया है, जिसके अन्तर्गत वक्त्र, पथ्यावक्त्र, विपरीतपथ्यावक्त्र, चपलावक्त्र, युग्मविपुला, विपुला, भविपुला, रविपुला, नविपुला, तविपुला आदि उपभेदों का वर्णन है। इनके लक्षण एवं उदाहरण सम्बन्धित छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। विपुलादि छन्द का प्रयोग श्रीमद्भगवद्गीता में अधिकांशतः देखा जा सकता है।

उपर्युक्त मात्रिक छन्दों में आर्या प्रधान के छोड़कर किसी भी छन्द का प्रयोग महाकवियों या संस्कृत–कवियों की कृति में देखने को नहीं मिलता, कहीं–कहीं पर मात्रासमक तथा गीति का प्रयोग देखने को मिलता है, किन्तु आचार्यों ने सभी छन्दों का लक्षण सोदाहरण स्पष्ट किया है। अत एव ये सभी छन्द केवल सैद्धान्तिक ही प्रतीत होते हैं।

वार्णिक छन्द की उद्भावना –

वैदिक छन्दों में दो तत्त्व थे– उदात्तादि स्वरों के आरोह–अवरोह का नियमन तथा दूसरा केवल अक्षर संख्या की योजना। वर्णों के गुरु–लघु–स्वरूपों के सङ्गीतात्मक अन्तर का उपयोग वैदिक छन्दों में नहीं हुआ था। अनुमान है कि त्रिष्टुप् की पङ्क्ति को जगती की पङ्क्ति के रूप में परिवर्द्धित करने की प्रक्रिया में इस गुरु–लघुमात्रा–सङ्गीत की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ होगा। जगती का पादगत अन्तिम अक्षर प्रायः लघु ही हुआ करता है, जबकि त्रिष्टुप् के बाद का अन्तिम अक्षर बहुधा गुरु होता है। जगती के पादान्त में लघु–गुरु के अन्तर की सङ्गीतात्मक चेतना के प्रभाववश बाद में त्रिष्टुप् और जगती के पादों के अन्तिम चार–पाँच अक्षरों वाले लघु–गुरु क्रम एक निश्चित स्वरूप में बदल गये होंगे। त्रिष्टुप् और जगती के पादान्त चार–पाँच अक्षरों का क्रमिक रूप निर्मित होता है – (। ऽ । ऽ) तथा (। ऽ । ऽ ।) । यही प्रवृत्ति गायत्री और अनुष्टुप् के विशिष्ट पादों में दिखायी देती है।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं–कहीं जो 'गाथायें' मिलती हैं, वे मुख्यतः तीन छन्दों में उपलब्ध होती हैं– अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती। इनकी बनावट वार्णिक छन्दों जैसी है। ब्राह्मण ग्रन्थों की गाथाओं में गुरु–लघु का नियमन प्रायः देखने को मिलता है। इसी प्रवृत्ति को लौकिक छन्दस्कारों ने स्वीकार किया, फिर भी त्रिष्टुप् और जगती वर्ग के प्रमुख छन्द इन्द्र और उपेन्द्रवज्रा तथा वंशस्थ और इन्द्रवंशा आदि छन्दयुग्मों में पादागत प्रथम वर्ण के गुरु–लघु रूप (ऽ) तथा (।) सम्बन्धी शिथिलता वैदिक छन्दों की स्वच्छन्दता का प्रतीक प्रतीत होती है, जिसे बाद में चलकर छन्दस्कारों ने 'उपजाति' नाम दिया, क्योंकि इनके पृथक्–पृथक् स्वरूप पूरे वृत्त में नहीं घटित होते थे।

---

[1] एच०डी०वेलणकर, जयदामन्, भूमिका, पृष्ठ–६

इन्द्रवज्रा के आरम्भ में गुरुवर्ण तथा उपेन्द्रवज्रा के प्रारम्भ में लघु होता है। पाद में शेष लघु–गुरु वर्णों का क्रम समान रहता है। महाकवि कालिदास आदि कवियों ने इनके मिश्रित रूप 'उपजाति' (इन्द्रमाला) को ही अपनाया है। वंशस्थ और इन्द्रवंशा के पादों में अन्तर यह होता है कि वंशस्थ के प्रारम्भ में लघु तथा इन्द्रवंशा के प्रारम्भ गुरु वर्ण होता है। इन दोनों के मिश्रण को उपजाति के अतिरिक्त 'वंशमाला' भी कहा जाता है।[1] जयकीर्ति ने उपजाति को जातिवाचक सञ्ज्ञा के रूप में ही प्रयुक्त किया है।[2] बाद के छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने भी ऐसा ही किया है।[3]

अष्टाक्षरात्मक अनुष्टुप् पुराण तथा महाकाव्य आदि में बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ, जिस कारण यह लोकप्रिय हुआ और इसी लोकप्रियता के कारण अर्द्धनियमित रूप में ही परिनिष्ठित हो गया। किन्तु अनुष्टुप् ने भी वैदिक स्वर–सङ्गीत को परित्याग कर एक नये सङ्गीत को अङ्गीकृत किया, जिसमें पादगत लघु–गुरु का विशिष्ट संयोजन था। इसी से तो भवभूति ने इसे छन्द के नवीन अवतार के रूप में माना है, जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है। त्रिष्टुप्–जगती, जिसके पादान्त में चार–पाँच वर्णों का लघु–गुरु का क्रम व्यवस्थित हो चुका था, तथा पादारम्भ में स्वच्छन्दता बनी थी, अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय कवियों के हाथों पड़ने के कारण अपने इस अर्द्धानुशासित रूप को सुरक्षित न रख सके और शीघ्र ही लघु–गुरु–क्रम वाले नवीन सङ्गीत के आलोक में रूपान्तरित हुए अर्थात् पूरा पाद का पाद लघु–गुरु–क्रम से व्यवस्थित हो गया। इस प्रकार वार्णिक छन्दों की परम्परा प्रकाश में आयी।

---

[1] जयकीर्ति छन्दोऽनुशासन, २/११७

[2] एच०डी०वेलणकर, जयदामन्, भूमिका, पृष्ठ–१४

[3] इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम । केदारभट्ट, वृत्तरत्नाकर, ३/३२

वार्णिक (वृत्त) छन्द :– इस प्रकार उद्भावित वार्णिक छन्द में वर्णों की नियत व्यवस्था से छन्दों का स्वरूप निर्धारित होता है। इसके स्वरूप–निर्धारण में अष्टविध वर्णगणों का प्रयोग किया जाता है। हाँ, कतिपय आचार्यों ने गणों का प्रयोग न कर गुरु–लघु का ही प्रयोग किया। यह भी तीन प्रकार का होता है– समवृत्त, अर्द्धसमवृत्त तथा विषम वृत्त। इनके लक्षण मात्रिक छन्दों के भेद के अन्तर्गत द्रष्टव्य हैं।

समवृत्त के भेदों का आधार पाद में अक्षरों की संख्या को माना गया है। अतः एकाक्षरात्मक पाद से छब्बीस अक्षरात्मक पाद पर्यन्त २६ भेद होते हैं,[1] जो इस प्रकार हैं–

१. उक्ता २. अत्युक्ता ३. मध्या ४. प्रतिष्ठा ५. सुप्रतिष्ठा

६. गायत्री ७. उष्णिक् ८. अनुष्टुप् ९. बृहती १०. पङ्क्ति

११. त्रिष्टुप् १२. जगती १३. अतिजगती १४. शक्वरी १५.अतिशक्वरी

१६. अष्टि १७.अत्यष्टि १८. धृति १९. अतिधृति २०.कृति

२१. प्रकृति २२. आकृति २३. विकृति २४. सङ्कृति २५. अतिकृति

२६. उत्कृति ।

इन छन्दों को पाँच समूह में बाँट सकते हैं–

१. **अनादिष्ट छन्द** – उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा तथा सुप्रतिष्ठा।

२. **बृहच्छन्द** – गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, और जगती।

३. **अतिच्छन्द**–अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति

४. **कृतिच्छन्द** – कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, सङ्कृति, अभिकृति तथा उत्कृति।

५. २६ अक्षर से बड़े छन्दों को '**प्रचितिच्छन्द**' के अन्तर्गत रखा जाता है।

---

[1] आरभ्यैकाक्षरात्पादादेकैकाक्षरवर्द्धितैः।
पृथक्छन्दो भवेत्पादैर्यावत्षड्विंशतिं गतम्।।
– वृत्तरत्नाकर, १/१७

उपर्युक्त छन्द समूहों में 'अनादिष्टच्छन्द' का 'गायत्री' जाति में अन्तर्भाव हो जाता है। जैसाकि कहा गया है –

'उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद्गायत्रीत्येव कथ्यते।
यथा ह्यतिजगत्यादि त्वतिच्छन्दः प्रवर्ण्यते।।'

ये छन्दों के सामान्य नाम हैं, इसीलिये इनकी सञ्ज्ञा 'जाति' है। ध्यातव्य है कि वैदिक छन्दों में गायत्री आदि छन्द–विशेष के बोधक थे, किन्तु लौकिक छन्द में आकर छन्द विशेष के द्योतक न होकर इन्होंने 'छन्दोजाति' का रूप धारण कर लिया। यह 'छन्दोजाति' लौकिक छन्द का भेद 'जाति' (मात्रिक) से पूर्णतः भिन्न है। यह वार्णिक छन्दों का ही सामान्य नाम है। इन्हीं के प्रस्तारगत भेद ही विशिष्ट वार्णिक छन्द हैं, जिसका विवेचन इसी अध्याय में प्रत्यय निरूपण के समय किया जायेगा।

इन छन्दोजातियों में पाद में स्थित एक–एक अक्षरों की वृद्धि से छन्द की अगली जाति बनती चली जाती है। इस प्रकार पूरे छन्द में चार–चार अक्षरों की वृद्धि होती जाती है। छब्बीस अक्षरों से अधिक अक्षरों वाले छन्द को 'दण्डक' के नाम से जाना जाता है। ऐसे छन्दों को 'दण्डक' इसलिये कहा जाता है कि इनके चरण इतने लम्बे होते हैं कि पाठ करने में पाठक की साँस फूल जाती है और यही साँस फूलना ही दण्ड है। दण्ड के समान लम्बे होने के कारण भी इन्हें दण्डक कहा जाता है।

प्रस्तार आदि गणितीय दृष्टि से छन्दों के उपर्युक्त भेद के विविध रूप निष्पन्न या निर्मित होते हैं। यह भेद एक निश्चित अक्षर संख्या में ही गुरु–लघु के क्रम परिवर्तन से निर्मित होते हैं। इसी सन्दर्भ में छन्दों के 'प्रत्यय' के विषय भी ज्ञातव्य है। वस्तुतः छन्दों की संख्यादि की प्रतीति होने के कारण इसे 'प्रत्यय' कहा जाता है अथवा 'प्रत्यय' का अर्थ विश्वास होता है। अतः विश्वासयुक्त होने के कारण इन्हें

'प्रत्यय' कहा जाता है। सम्भावित वृत्तों पर इनसे विश्वास उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यय का लक्षण यह हो सकता है– जिसके द्वारा वृत्त की प्रतीति होती है, उसे प्रत्यय कहते हैं। अथवा जिनके द्वारा सम्भावित वृत्तों की संख्या पर विश्वास हो जाता है, उन्हें प्रत्यय कहते हैं। इनकी संख्या छः है, जिन्हें 'षड्प्रत्यय' कहते हैं– प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वयादिलगक्रिया, संख्यान और अध्वयोग।[1] इनका क्रमशः विवेचन नीचे दिया जा रहा है–

१. **<u>प्रस्तार</u>** :– छन्दों के कितने रूप हो सकते हैं? इसकी व्यपेक्षा होने पर हम प्रस्तार के माध्यम से इसे जान सकते हैं। 'प्रस्तार' का अर्थ है– "प्रस्तरणं विताननं लक्षणमङ्कसंख्येत्यर्थः" अर्थात् फैलाना, लक्षित करना तथा अङ्क संख्या बतलाने का नाम 'प्रस्तार' है।[2] प्रस्तार के माध्यम से छन्दों के विविध रूप जानने के प्रस्तार की विधि यह है कि सर्वप्रथम अभीष्ट छन्द में जितने वर्ण हों, उतने गुरु लिख लेना चाहिये। यही छन्द का प्रथम रूप होगा। उसके बाद पहली पङ्क्ति के पहले गुरू के नीचे अगली पङ्क्ति में लघु लिखते हैं, तत्पश्चात् शेष वर्ण को ज्यों का त्यों उतार देते हैं। यह प्रक्रिया तब तक करते जाते हैं जब तक सर्वलघु न हो जाये और यही अन्तिम भेद होगा। हाँ, प्रथम गुरु के नीचे लघु लिखने के बाद बायीं ओर जिनते भी वर्ण बचते हैं उनके स्थान पर गुरु रखते चले जाते हैं।[3] प्रकृत विधि के आधार पर षडक्षरा गायत्री जाति के प्रस्तारगत रूपों को तालिका के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं–

---

[1] प्रस्तारो नष्टमुद्दिष्टमेकद्वयादिलगक्रिया।
संख्यानमध्वयोगश्च षडेते प्रत्ययाः स्मृताः।।
– वृत्तरत्नाकर ६/१

[2] अभिनवभारती, १४/११३

[3] पिङ्गलकृत छन्दःशास्त्र – द्विकौ ग्लौ ८/२०, मिश्रौ च ८/२१ पृथग्ला मिश्राः ८/२२

उदाहरण के लिये छठीं जाति षड़क्षरा गायत्री के विविध रूप जानना हो, तो सर्वप्रथम छः गुरु रख देते हैं–

१. ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ	२३. ऽ । । ऽ । ऽ	४५. ऽ ऽ । । ऽ ।
२. । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ	२४. । । । ऽ । ऽ	४६. । ऽ । । ऽ ।
३. ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ	२५. ऽ ऽ ऽ । । ऽ	४७. ऽ । । । ऽ ।
४. । । ऽ ऽ ऽ ऽ	२६. । ऽ ऽ । । ऽ	४८. । । । । ऽ ।
५. ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ	२७. ऽ । ऽ । । ऽ	४९. ऽ ऽ ऽ ऽ । ।
६. । ऽ । ऽ ऽ ऽ	२८. । । ऽ । । ऽ	५०. । ऽ ऽ ऽ । ।
७. ऽ । । ऽ ऽ ऽ	२९. ऽ ऽ । । । ऽ	५१. ऽ । ऽ ऽ । ।
८. । । । ऽ ऽ ऽ	३०. । ऽ । । । ऽ	५२. । । ऽ ऽ । ।
९. ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ	३१. ऽ । । । । ऽ	५३. ऽ ऽ । ऽ । ।
१०. । ऽ ऽ । ऽ ऽ	३२. । । । । । ऽ	५४. । ऽ । ऽ । ।
११. ऽ । ऽ । ऽ ऽ	३३. ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ।	५५. ऽ । । ऽ । ।
१२. । । ऽ । ऽ ऽ	३४. । ऽ ऽ ऽ ऽ ।	५६. । । । ऽ । ।
१३. ऽ ऽ । । ऽ ऽ	३५. ऽ । ऽ ऽ ऽ ।	५७. ऽ ऽ ऽ । । ।
१४. । ऽ । । ऽ ऽ	३६. । । ऽ ऽ ऽ ।	५८. । ऽ ऽ । । ।
१५. ऽ । । । ऽ ऽ	३७. ऽ ऽ । ऽ ऽ ।	५९. ऽ । ऽ । । ।
१६. । । । । ऽ ऽ	३८. । ऽ । ऽ ऽ ।	६०. । । ऽ । । ।
१७. ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ	३९. ऽ । । ऽ ऽ ।	६१. ऽ ऽ । । । ।
१८. । ऽ ऽ ऽ । ऽ	४०. । । । ऽ ऽ ।	६२. । ऽ । । । ।
१९. ऽ । ऽ ऽ । ऽ	४१. ऽ ऽ ऽ । ऽ ।	६३. ऽ । । । । ।
२०. । । ऽ ऽ । ऽ	४२. । ऽ ऽ । ऽ ।	६४. । । । । । ।
२१. ऽ ऽ । ऽ । ऽ	४३. ऽ । ऽ । ऽ ।	
२२. । ऽ । ऽ । ऽ	४४. । । ऽ । ऽ ।	

प्रकृत प्रस्तार–विधि की प्रक्रिया के माध्यम से हमने देखा कि षड्क्षरा गायत्री के चौंसठ रूप हो सकते हैं। छन्दों के रूप जानने की यह विधि गणितीय दृष्टि से कितनी वैज्ञानिक है। सर्वगुरु से लेकर सर्वलघु तक ६४ रूप बन सकते हैं, न कम न अधिक। यदि सभी छन्दों के रूपों की संख्या प्रस्तार के माध्यम से जानें तो देखते हैं कि अमुक छन्द के रूप अपने ठीक पूर्व के छन्द के रूपों के दुगुने होते जाते हैं, यथा–षड्क्षरा गायत्री जाति के ६४ रूप हैं, तो सप्ताक्षरा उष्णिक् जाति के १२८ रूप होगें। आचार्य भरत ने

षडक्षरा गायत्री छन्द से लेकर २६ अक्षरों वाले 'उत्कृति' तक समस्त छन्दों के रूपों की संख्या बतायी है।[1]

समवृत्त के भेदों एवं उसके रूपों को हम सुविधानुसार एक तालिका से समझ सकते हैं–

क्र.स.	जाति नाम	अक्षर संख्या	जातिरूपों की संख्या	सम्पूर्ण अक्षर संख्या
१	उक्ता	१	२	४
२	अत्युक्ता	२	४	८
३	मध्या	३	८	१२
४	प्रतिष्ठा	४	१६	१६
५	सुप्रतिष्ठा	५	३२	२०
६	गायत्री	६	६४	२४
७	उष्णिक्	७	१२८	२८
८	अनष्टुप्	८	२५६	३२
९	बृहती	९	५१२	३६
१०	पङ्क्ति	१०	१०२४	४०
११	त्रिष्टुप्	११	२०४८	४४
१२	जगती	१२	४०९६	४८
१३	अति जगती	१३	८१९२	५२
१४	शक्वरी	१४	१६३८४	५६
१५	अतिशक्वरी	१५	३२७६८	६०
१६	अष्टिः	१६	६५५३६	६४
१७	अत्यष्टिः	१७	१३१०७२	६८
१८	धृतिः	१८	२६२१४४	७२
१९	अति धृतिः	१९	५२४२८८	७६
२०	कृतिः	२०	१०४८५७६	८०
२१	प्रकृतिः	२१	२०९७१५२	८४
२२	आकृतिः	२२	४१९४३०४	८८
२३	विकृतिः	२३	८३८८६०८	९२
२४	सङ्कृतिः	२४	१६७७७२१६	९६
२५	अतिकृतिः	२५	३३५५४४३२	१००
२६	उत्कृतिः	२६	६७१०८८६४	१०४

[1] नाट्यशास्त्र, १५/५२–७८

वार्णिक छन्दों के प्रस्तारगत भेदों की इस तालिका को बनाने की विधि यह है कि यदि छन्द एक अक्षर का है, तो या तो हम उस एक अक्षर को लघु मानें या गुरु। इस प्रकार एक अक्षर के छन्द के दो स्वरूप हुए। इसी प्रकार २, ३, ४, ५ आदि अक्षरों वाले छन्दों के कितने भेद या स्वरूप हो सकते हैं, इसे जानने के लिये अभिनव गुप्त का कथन है कि –

एकादिक्रमवशाद् द्विगुणं सुपिण्ड्यच्छन्दः प्रमाणकलितानथपिण्डयेत् तान्।
एकं क्षिपेत् तदुपरीति समस्तवृत्तसंख्याप्रकाशनविधौ लघुरन्दुनयः।[1]

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। छन्द के इन विविध प्रस्तारों को यदि हम सङ्गणक यन्त्र अर्थात् कम्प्यूटर में सङ्गणित कर देखें तो निश्चित रूप से ये सारे भेद–प्रभेद प्रदर्शित हो सकते हैं। छन्दों के प्रस्तार की प्रक्रिया निश्चित रूप से वैज्ञानिक विधि पर अवलम्बित है। छन्दों की इस प्रस्तारगत भेदों का कम्प्यूटरीकरण (सङ्गणकयन्त्रीकरण) निश्चित रूप से इस दिशा में एक नया कदम होगा।

२. **नष्ट** :– नष्ट का अर्थ है– "नष्टमिति स्वरूपेणैव न ज्ञातं संख्यया तु ज्ञातम्"[2] अर्थात् जिस जाति की संख्या ज्ञात है, किन्तु स्वरूप अज्ञात है, उसे 'नष्ट' कहते हैं। अन्य शब्दों में, किसी भी वृत्त का स्वरूप बिना प्रस्तारगत प्रक्रिया के ही ज्ञात करना है, तो उसे ज्ञात करने की विधि ही 'नष्ट' कहलाती है। नष्ट की प्रक्रिया से बिना प्रस्तार रचना के किसी भी छन्द के इष्ट रूप का ज्ञान सरलता से हो जाता है। यदि हम किसी जाति के किसी भेद या स्वरूप को जानना चाहें, तो प्रस्तार रचना के द्वारा एक तो समय अधिक लगेगा तथा स्थान भी। जैसे षडक्षरा गायत्री जाति के बासठवें रूप का ज्ञान करते हुए बहुत समय लग जायेगा, किन्तु 'नष्ट' की प्रक्रिया द्वारा

---

[1] नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, १४
[2] अभिनवभारती, १४/११३

अपेक्षाकृत अत्यन्त कम समय में बताया जा सकता है। नष्ट की प्रक्रिया जानने की विधि इस प्रकार है–

जिस क्रमाङ्क के वृत्त का स्वरूप जानना हो, तो सर्वप्रथम उस क्रमाङ्क को देखते हैं कि वह 'सम' है या 'विषम' यदि सम हो तो प्रथम अक्षर लघु लिखते हैं और यदि विषम है तो प्रथम अक्षर गुरु लिखते हैं। द्वितीय अक्षर का स्वरूप जानने के लिये इष्ट वृत्त की संख्या को आधा करते हैं और यदि बराबर–बराबर भाग नहीं जा सकता, तो एक जोड़कर आधा करते हैं। इसे गणितीय रूप में इस प्रकार लिख सकते हैं–

$$५ + १ = ६ \div २ = ३ + १ = ४ \div २ = २$$

अब यदि आधा किया गया भाग सम हो तो द्वितीय अक्षर को लघु और यदि विषम हो तो गुरु लिखते हैं। इस प्रकार यह प्रक्रिया तब तक करते जाते हैं, जब तक अपेक्षित वृत्त की संख्या पूर्ण न हो जाये।[1] हम उदाहरण के माध्यम से इसे स्पष्ट कर सकते हैं–

उदाहरणार्थ – षडक्षरा गायत्री जाति का बासठवाँ भेद क्या होगा ? हमें यह जानना है। यह सम होने के कारण सबसे पहले लघु, फिर आधा करने पर विषम संख्या मिलती है, अतएव द्वितीय अक्षर गुरु तत्पश्चात् एक संख्या मिलाकर आधा करने पर सम संख्या प्राप्त होती है, अतः तीसरा अक्षर लघु। इसी प्रकार शेष आगे सम संख्या मिलने के कारण शेष तीनों अक्षर लघु होंगे। इस प्रकार पूरी प्रक्रिया के बाद बासठवाँ रूप प्राप्त हुआ– "। ऽ । । । । " यही इष्टभेद होगा।

यहाँ ध्यातव्य है कि एक की संख्या आ जाने पर एक में एक जोड़कर दो आयेगा और दो का आधार करने पर एक ही आता रहेगा, जिसके लिए गुरु ही रखा

---

[1] पिङ्गलकृत छन्दः शास्त्र, लर्द्दे ८/२४, सैके ग् ८/२५

जायेगा। अतः जब आधा करते–करते एक आ जाये, तो उसके आगे के सारे अपेक्षित अक्षर गुरु ही होंगे।

३. उद्दिष्ट :– 'उद्दिष्ट' का अर्थ है – "उद्दिष्टं तु स्वरूपेण ज्ञातं न संख्यया"[१] अर्थात् जिस वृत्त का स्वरूप ज्ञात है किन्तु संख्या का ज्ञान नहीं है, वह उद्दिष्ट है तथा 'उद्दिष्ट' जानने की विधि 'उद्दिष्टविधि' कहलाती है। उद्दिष्ट के सम्बन्ध में यह भी जानना आवश्यक है कि जहाँ इसके लिए उद्दिष्ट रूप का ज्ञान होता है, वहीं नष्ट के द्वारा सिद्ध किये गये रूप की शुद्धता का निर्णय भी होता है।

उद्दिष्टविधि इस प्रकार है–

सर्वप्रथम जिस वृत्त की संख्या जानना हो, उस वृत्त का स्वरूप लिखते हैं। तत्पश्चात् प्रथम अक्षर से लेकर अन्तिम अक्षर तक ऊपर–ऊपर क्रमशः एक से लेकर दुगुनी संख्या लिखते चले जाते हैं। तदनन्तर लघु अक्षरों के ऊपर के अङ्कों को जोड़ लेते हैं और प्राप्त योग में एक जोड़ देते हैं, फलस्वरूप प्राप्त संख्या ही उद्दिष्ट संख्या होगी।[२]

उदाहरणार्थ– षडक्षरा गायत्री जाति के इस वृत्त के स्वरूप '। ऽ।।।।' की संख्या जाननी हो, तो उद्दिष्ट विधि को अपनाते हुए इस प्रकार लिखते हैं–

१ २ ४ ८ १६ ३२
। ऽ । । । ।

लघु अक्षरों की संख्याओं का योग = १+४+८+१६+३२ = ६१

प्राप्त योग में एक जोड़ देने के बाद प्राप्त संख्या = ६१ + १ = ६२

---

[१] अभिनवभारती, १४/११३

[२] पिङ्गलकृत छन्दःशास्त्र, प्रतिलाभगणं द्विर्ताद्यम् ८/२६

४. **एकद्वयादिलगक्रिया** :– इस क्रिया के द्वारा लघु–गुरु संख्या वाले भेदों की संख्या का ज्ञान होता है, अतएव इसे 'एकद्वयादिलगक्रिया' कहते हैं। अन्य शब्दों में, किसी भी जाति के प्रस्तारगत रूपों में कितने वृत्तों में एक लघु है, कितने वृत्तों में दो लघु हैं, कितने वृत्तों में तीन लघु हैं, कितने वृत्तों में चार लघु हैं तथा कितने वृत्तों में सारे लघु हैं? इसी प्रकार कितने वृत्तों में कितने कितने गुरु हैं? आदि समस्त प्रश्नों के उत्तर जानने की क्रिया ही 'एकद्वयादिलगक्रिया' है। इस क्रिया को ही पिङ्गल, छन्दःकौस्तुभकार आदिकों ने 'मेरु' कहा है, क्योंकि क्रिया की प्रक्रिया के दौरान अङ्कों का एक पहाड़ सा बन जाता है।

एकद्वयादिलगक्रिया को जानने की विधि यह है कि सर्वप्रथम जितने अक्षरों की लगक्रिया करनी हो उससे एक संख्या बढ़ाकर पङ्क्तिबद्ध करके उतने ही 'एक' संख्या लिख लेते हैं, तत्पश्चात् पहले 'एक' के नीचे भी उसी तरह नीचे की ओर पङ्क्तिबद्ध सारिणी बना लेते हैं। अब हम देखते हैं कि दोनों ऊपर तथा बाँयी ओर पङ्क्तियों में छन्द के कुल अक्षरों की संख्या से एक संख्या अधिक है। इसके बाद आगे के रिक्त स्थानों में तिर्यक् योग करके भरते जाते हैं तथा अन्त में एक अङ्क को छोड़ देते हैं अर्थात् प्रत्येक पङ्क्ति के अन्त में एक–एक अङ्क पिछली पङ्क्ति के अन्तिम अंक को एकत्र लिख लेते हैं। ये ही अङ्क क्रमशः सर्वगुरु, एक गुरु, द्विगुरु आदि संख्या होगी और यही उनके सर्वलघु, एकलघु, द्विलघु आदि की संख्या भी होगी।

ध्यातव्य है कि इन सभी प्राप्त संख्याओं का योग, वृत्त की कुल संख्याओं के योग के बराबर होगा। उदाहरणार्थ हमें षडक्षरा गायत्री जाति की लगक्रिया करनी हो तो सर्वप्रथम प्रथम पङ्क्ति में ६+१ = ७, सात बार एक–एक अङ्कों को सारिणीबद्ध करते हैं, तत्पश्चात् बाँयी ओर भी पहले एकाङ्क के क्रम से सात एकाङ्क भरते हैं।

इस प्रकार दोनों ओर कुल सात–सात एकाङ्क की श्रेणी प्राप्त होती है। उसके बाद दूसरी पङ्क्ति हेतु क्रमशः तिर्यक योग करते हुए प्राप्त योगाङ्क को दूसरी पङ्क्ति में भर देते हैं। इसी प्रकार छठवीं पङ्क्ति तक भरते चले जाते हैं। फलतः प्राप्त सारिणी इस प्रकार होगी–

एकद्वयालिदलगक्रियाबोधक सारिणी :–

१	१	१	१	१	१	१
१	२	३	४	५	६	
१	३	६	१०	१५		
१	४	१०	२०			
१	५	१५				
१	६					
१						

उपर्युक्त सारिणी की प्रत्येक पङ्क्ति की अन्तिम संख्यायें क्रमशः १, ६, १५, २०, १५, ६, १ तथा १ हैं। इस सारिणी में प्रथम अन्तिम संख्या तथा अन्त की अन्तिम संख्या दोनों १ है, जिसमें प्रथम अंक १ सर्वगुरु भेद का सूचक है तथा अन्तिम अङ्क १ सर्वलघु का सूचक। इससे यह स्पष्ट होता है कि लघु तथा गुरु की संख्या के आधार पर वृत्तों की संख्या बराबर होती है। अतः हम इसे इस प्रकार लिख सकतें है कि षडक्षरा गायत्री जाति में –

सर्वगुरु– १
एकगुरु या एक लघु –६
द्विगुरु या द्विलघु – १५
त्रिगुरु या त्रि लघु – २०
चतुर्गुरु या चतुर्लघु – १५
पञ्चगुरु या पञ्चलघु – ६
सर्व लघु – १

ध्यातव्य है कि प्रस्तारगत प्रक्रिया में भी प्रथम भेद सर्वगुरु तथा अन्तिम भेद सर्वलघु का होता है।

५. संख्या – 'संख्या' नाम प्रत्यय के द्वारा यह ज्ञात होता है कि इतने वर्ण वाले कुल इतने छन्द होते हैं अर्थात् यह प्रस्तारगत रूपों की सम्पूर्ण संख्या को सूचित करता है, जिस कारण इसे 'सूची' भी कहा जाता है। कहीं–कहीं इसे 'संख्यान' भी कहते हैं। 'संख्या' और 'संख्यान' का तात्पर्य एक ही है। 'संख्या' के माध्यम से किसी जाति के सम्पूर्ण रूपों या भेदों की संख्या जानने की विधि यह है कि–

यदि एकद्वयादिलगक्रिया के अङ्कों को परस्पर जोड़ देते हैं तो प्राप्त अङ्क 'संख्या' कहलाती है। पिछले उदाहरण में एकद्वयादिलगक्रिया के अङ्क क्रमशः १, ६, १५, २०, १५, ६ तथा १ हैं, इन्हें जोड़ देने पर प्राप्त संख्या ६४ है और यही षडक्षरा गायत्री जाति के सम्पूर्ण रूपों या वृत्तों की संख्या होगी।

इसे जानने की विधि और है, वह यह कि उद्दिष्ट के अङ्कों के योगफल में 'एक' जोड़ देने से भी 'संख्या' का ज्ञान हो जाता है। षडक्षरा जाति के उद्दिष्टाङ्क १, २, ४, ८, १६, ३२ हैं, इन्हें जोड़ देने पर योगफल ६३ होता है तथा इसमें एक जोड़ देने पर योगफल ६४ हो जाता है। यही 'संख्या' हुई।

६. अध्वयोग :– 'अध्वा' का अर्थ है– 'प्रस्तार लेखन के योग्य स्थान।' किसी छन्द के प्रस्तार को लिखने में कितना स्थान चाहिये, इसे जानने का प्रत्यय 'अध्वयोग' कहलाता है। जिस छन्द का 'अध्वयोग' जानना हो, उसकी कुल वृत्त संख्या का दुगुना करके एक घटा देने पर जो संख्या आती है, उसे ही उस छन्द का 'अध्वा' या अध्वयोग कहते हैं।

छन्द के प्रस्तार लिखते समय एक भेद के लिये एक चौथाई स्थान चाहिये तथा प्रत्येक वृत्ति की व्याप्ति एक अङ्गुल होती है तथा उसके नीचे या उपर एक

अङ्गुल रिक्त रखना चाहिये, जिससे वृत्त–भेदों का पार्थक्य बना रहे। सबसे नीचे स्थान छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, इसीलिये एक घटा दिया जाता है।

उदाहरणार्थ– षडक्षरा गायत्री के प्रस्तारगत सभी रूपों के लिये 'अध्वयोग' जानना है। इसके वृत्तों की कुल संख्या ६४ है। इसमें से एक घटा देने (६४–१=६३) पर प्राप्त अङ्गुल की लम्बाई ६३ अङ्गुल हुई। यही छः अक्षरों वाले गायत्री छन्द का अध्वा या अध्वयोग होगा, अर्थात् इस छन्द के कुल वृत्तों की संख्या को लिखने के लिये लगभग एक मीटर स्थान की आवश्यकता होगी।

प्रसङ्ग प्राप्त मात्रिक प्रत्ययों की भी चर्चा की जा रही है। मात्रिक प्रत्ययों के अन्तर्गत केवल प्रस्तार का ही विवेचन किया जा रहा है, क्योंकि शेष प्रत्यय वार्णिक प्रत्ययों की तरह ही हैं।

मात्रिक प्रस्तार :–

मात्रिक प्रस्तार भी वार्णिक प्रस्तार के समान ही है, किन्तु मात्रिक छन्द अक्षरों या वर्णों पर नहीं, अपितु मात्राओं पर आधारित हुआ करते हैं। अत एव जहाँ वार्णिक प्रस्तार का प्रथम भेद 'सर्वगुरु' वाला ही होता है, वहीं मात्रिक प्रस्तार में सम मात्रा वाले प्रस्तार का ही प्रथम भेद सर्वगुरु वाला होगा। विषम मात्रा वाले प्रस्तार के प्रथम भेद के प्रारम्भ या अन्त में एक लघु होता है और ऐसा मात्राओं को समान करने के लिये किया जाता है। उल्लेख्य है कि मात्रिक प्रस्तार करते समय हम इस बात का ध्यान रखते हैं कि प्रस्तारगत सभी रूपों में मात्राओं की संख्या इष्टमात्रा के बराबर बनी रहे। मात्राओं की संख्या बराबर बनाये रखने के लिये हम प्रथम 'गुरु' के नीचे 'लघु' लिखते हैं, शेष दायीं ओर के चिह्नों को ज्यों का त्यों उतार देते हैं, किन्तु जब बायीं ओर 'गुरु' लिखना प्रारम्भ करते हैं, तो इस बात का ध्यान रखते हैं कि हम जितनी मात्राओं का प्रस्तार कर रहें हैं, कुल मात्रायें उससे कम या अधिक न हों। यदि गुरु लिखने से मात्रायें अधिक हो

रही हों, तो गुरु के स्थान में लघु लिख देते हैं। इस प्रकार हम जितनी मात्रा का प्रस्तारगत भेद निकालना चाहें, निकाल सकते हैं। कतिपय उदाहरणों के माध्यम से हम इस प्रक्रिया को सरल बना सकते हैं–

पाँच मात्रा (पञ्चकल) का प्रस्तार –

भेद	प्रस्तार
१.	। ऽ ऽ
२.	ऽ । ऽ
३.	। । । ऽ
४.	ऽ ऽ ।
५.	। । ऽ ।
६.	। ऽ । ।
७.	ऽ । । ।
८.	। । । । ।

छः मात्रा (षट्कल) का प्रस्तार :–

भेद	प्रस्तार
१.	ऽ ऽ ऽ
२.	। । ऽ ऽ
३.	। ऽ । ऽ
४.	ऽ। । ऽ
५.	। । । । ऽ
६.	। ऽ ऽ ।
७.	ऽ । ऽ ।
८.	। । । ऽ ।
९.	ऽ ऽ । ।
१०.	। । ऽ । ।
११.	। ऽ । । ।
१२	ऽ । । । ।
१३.	। । । । । ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक मात्रा का प्रस्तार भेद एक, दो मात्रा के दो, तीन मात्रा के तीन, चार मात्रा के पाँच, पाँच मात्रा के आठ तथ छः मात्रा के प्रस्तारगत भेद तेरह होते हैं। अतः हम मात्रिक प्रस्तार भेद की यथासम्भव सूची बना सकते हैं–

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
प्रस्तार भेदों की संख्या	१	२	३	५	८	१३	२१	३४	५५	८९	१४४	२३३

प्रकृत सूची को देखने से पता चलता है कि पिछली दो–दो प्रस्तार–भेदों की संख्याओं को जोड़कर अगली मात्रा का प्रस्तार भेद ज्ञात किया गया है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर जितनी मात्रा का चाहें, उतनी मात्रा का प्रस्तार–भेद निकाल सकते हैं।

उपर्युक्त वार्णिक एवं मात्रिक प्रत्ययों का विश्लेषण करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि छन्द के स्वरूप एवं संख्यादि के ज्ञान में इन प्रत्ययों का अत्यन्त महत्त्व है। वस्तुतः गणितीय दृष्टि से छन्द के विविध स्वरूप एवं संख्यादि निकालने की ये विधियाँ वैज्ञानिक हैं। इन प्रत्ययों में भी प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट एवं संख्या सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी हैं। एकद्वयादिलगक्रिया तथा अध्वयोग इन छन्दों का व्यावहारिक पक्ष न के बराबर दिखायी देता है।

उपजाति छन्द का प्रस्तार –

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का मिश्रित छन्द उपजाति कहलाता है अर्थात् जिस छन्द का कोई चरण इन्द्रवज्रा का तथा कोई उपेन्द्रवज्रा का है, तो वह उपजाति छन्द कहलाता है। अन्य जातियों में इसी प्रकार दो छन्दों के मेल से जो छन्द बनेंगे वे भी उपजाति ही कहलायेगें। प्रत्येक उपजाति के अनेक प्रकार होते हैं। चार चरणों वाले उपजाति छन्द के प्रस्तार की विधि के अनुसार चौदह भेद होते हैं। इन्द्रवज्रा और

उपेन्द्रवज्रा, स्वागता एवं रथोद्धता तथा वंशस्थ एवं इन्द्रवंशा मिश्रित उपजाति प्रस्तारगत गणितीय दृष्टि से चौदह प्रकार की होती है–

एकत्र पादे चरणद्वये वा पादत्रये वान्यतरः स्थितश्चेद्।

तयोरिहान्यत्र तदोहनीयाश्चतुर्दशोक्ता उपजातिभेदाः।।

उपजाति के विविध रूपों को प्रस्तार के माध्यम से निकाल[1] सकते हैं–

इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा = उपजाति के प्रस्तारगत विविध रूप –

क्र०	जाति	प्रस्तारगत रूप	रूपों के नाम
–	त्रिष्टुप्	इ इ इ इ	इन्द्रवज्रा
१.	"	उ इ इ इ	कीर्ति
२.	"	इ उ इ इ	वाणी
३.	"	उ उ इ इ	माला
४.	"	इ इ उ इ	शाला
५.	"	उ इ उ इ	हँसी
६.	"	इ उ उ इ	माया
७.	"	उ उ उ इ	जाया
८.	"	इ इ इ उ	बाला
९.	"	उ इ इ उ	आर्द्रा
१०.	"	इ उ इ उ	भर्द्रा
११.	"	उ उ इ इ	प्रेमा
१२.	"	इ इ उ उ	रामा
१३.	"	उ इ उ इ	ऋद्धिः
१४.	"	इ उ उ उ	बुद्धिः
–	"	उ उ उ उ	उपेन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का समन्वित उपजाति छन्द महाकवियों के द्वारा बहुशः प्रयुक्त किया गया है। महाकवि कालिदास को यह इतना अच्छा लगा कि

[1] पिङ्गलकृत छन्दःशास्त्र, – आद्यन्तावुपजातयः

उन्होंने कुमारसंभव के अधिकांश सर्ग उपजाति छन्द में ही उपनिबद्ध किये हैं। कुमारसंभव का प्रारम्भ ही उपजाति छन्द से किया है। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दोनों ही छन्द अनुष्टुप् के बाद सर्वाधिक प्रचलित छन्द है। शायद इसका कारण इनकी सरलता है। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनकी लय अत्यन्त श्रुतिसुखद होती है।

इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा से मिश्रित उपजाति के कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं–

१. । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
स मानसीं मेरुसखः पितृणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितज्ञः।
ऽ ऽ । ऽ ऽ। । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
मेना मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे।।[1]

प्रकृत छन्द में प्रथम चरण उपेन्द्रवज्रा का है, शेष तीनों चरण इन्द्रवज्रा के हैं, अतः यह स्थल इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा का समन्वित रूप 'उपजाति' का प्रथम भेद 'कीर्ति' का है।

२. ऽ ऽ। ऽ ऽ। । ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ। । ऽ। ऽ ऽ
उद्गास्यातामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्।।[2]

इस उपजाति छन्द में द्वितीय चरण उपेन्द्रवज्रा का है, शेष इन्द्रवज्रा के, अतः यह 'वाणी' नामक उपजाति का द्वितीय रूप का स्थल है।

इसी प्रकार कुमारसम्भव में ही सभी रूपों के प्रयोग देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी उपजाति के प्रयोग बहुलता से प्राप्त होते हैं, यथा–

---

[1] महाकवि कालिदास–कुमारसम्भव सर्ग–१, पद्य–१८
[2] " वही " " पद्य–८

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ। ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
विना न साहित्यविदाऽपरत्र गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।

ऽ ऽ । ऽ ऽ ।। ऽ । ऽ ऽ । ऽ। ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलविन्दुः।।[1]

यहाँ पर केवल तृतीय चरण इन्द्रवज्रा का है, शेष उपेन्द्रवज्रा के हैं, अतः यह उपजाति छन्द का चौथा रूप 'शाला' का है।

ध्वन्यालोककार ने प्रतीयमान अर्थ को उपजाति छन्द में ही बताया है–

। ऽ। ऽ ऽ ।। ऽ। ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्तिवाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[2]

सबसे रोचक बात यह है कि अधिकाँश सुभाषित पद्य उपजाति छन्द में ही हैं। एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होगा–

१. अनन्तशास्त्रं बहुलश्च विद्याः अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।

यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।।

इसका प्रथम चरण इन्द्रवज्रा का है, शेष तीनों चरण उपेन्द्रवज्रा के हैं, अतः उपजाति का प्रथम भेद 'कीर्ति' का स्थल है।

२. उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः।।

इस छन्द में दूसरा चरण उपेन्द्रवज्रा के लक्षण से युक्त है, तथा शेष तीनों चरण उपेन्द्रवज्रा के हैं।

---

[1] महाकवि मङ्खक

[2] आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत।

उपजाति के प्रयोग के विषय में यह ध्यातव्य है कि समान जाति के ही दो वृत्तों के मेल या सङ्कर को उपजाति कहा जाना चाहिए।

'इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेद नाम' इस पङ्क्ति में आचार्यो ने यह सङ्केत किया है कि उपजाति केवल इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा के ही मिश्र को नहीं कहते, अपितु अन्य जातियों के छन्दों के मिश्रण को भी उपजाति सञ्ज्ञा दी जा सकती है। यह भी उल्लेख्य है कि एक ही जाति में भी सभी वृत्तों का सङ्कर या मेल नहीं होता, अपितु जो सुनने में श्रुति सुखद एवं मधुर हों या जिनका महाकवियों ने प्रयोग किया हो, उन्हीं वृत्तों का सङ्कर होता है। इस दृष्टि से त्रिष्टुप् जाति के इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा तथा स्वागता एवं रथोद्धता श्रुति सुखद एवं महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त हैं। जगती जाति के वंशस्थ एवं इन्द्रवंशा के मिश्रण से बनी उपजाति भी महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त है। त्रिष्टुप् जाति की वातोर्मी एवं शालिनी के सङ्कर से निर्मित उपजाति भी महाकाव्यों में देखी जाती है।

त्रिष्टुप् जाति के स्वागता एवं रथोद्धता के मेल से बनी उपजाति के भी वही नाम है, जो इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा की उपजाति के हैं। यथा –

ऽ। ऽ । ।। ऽ । ऽ। ऽ ऽ । ऽ। । । ऽ । । ऽ ऽ
ब्रह्मनिष्ठ मकनिष्ठचेष्टितं विष्टपत्रितयशिष्ट वरिष्ठम्।

ऽ । ऽ।।। ऽ । ऽ।ऽ ऽ । ऽ । ।। ऽ।। ऽ ऽ
ब्रह्मसूनुरथ विष्टरश्रवा विष्टरे समुपविष्टमयष्ट।।[1]

त्रिष्टुप् जाति के इस छन्द में प्रथम एवं तृतीय चरण रथोद्धता तथा द्वितीय एवं चतुर्थ स्वागता के लक्षण से युक्त है, अतः यह रथोद्धता एवं स्वागता मिश्रित उपजाति का पञ्चम रूप 'हंसी' है। इसके अन्य भेद भी प्रकृत काव्य या अन्य महाकाव्यों में गवेषणीय हैं। इसी जाति की वातोर्मी एवं शालिनी मिश्रित उपजाति भी महाकाव्यों में उपलब्ध होती है।

---

[1] शेषकृष्णपण्डितकृत – परिजातहरणचम्पूकाव्य –१/५१

जगती जाति की वंशस्थ एवं इन्द्रवंशा की भी उपजाति के प्रस्तारगत चौदह ही रूप बनते हैं, किन्तु उनके नाम भिन्न हैं।

वंशस्थ एवं इन्द्रवंशा मिश्रित उपजाति के विविध रूप –

क्रमांक	जाति	प्रस्तारगत रूप	रूपों के नाम
	जगती	वं० वं० वं० वं०	वंशस्थ
१.	,,	इ० वं० वं० वं०	कुमारी
२.	,,	वं० ई० वं० वं०	रमणा
३.	,,	इ० इ० वं० वं०	शङ्खचूड़
४.	,,	वं० वं० ई० वं०	वैधात्री
५.	,,	इ० वं० इ० वं०	शिशिरा
६.	,,	वं० इ० इ० वं०	मन्दहासा
७.	,,	इ० इ० इ० वं०	वासन्तिक
८.	,,	वं० वं० वं० इ०	शीलातुरा
९.	,,	इ० वं० वं० इ०	सौरभेयी
१०.	,,	वं० इ० वं० इ०	उपमेया (रामणीयकम्)
११.	,,	इ० इ० वं० इ०	पुष्टिदा
१२.	,,	वं० वं० इ० इ०	इन्दुभा
१३.	,,	इ० वं० इ० ई०	रताख्यानकी
१४.	,,	वं० इ० ई० इ	वैरासिकी
	,,	इ० इ० इ० इ०	इन्द्रवंशा

वंशस्थ और इन्द्रवंशा की उपजाति के सभी रूप कुमारसम्भव एवं शिशुपालवध में प्राप्त होते हैं। कुमारसंम्भव के चौदहवाँ एवं पन्द्रहवाँ सर्ग तथा शिशुपालवध का बारहवाँ सर्ग इसी उपजाति में प्रणीत है। उदाहरणार्थ कुछ रूप दिये जा रहे हैं–

१. ऽ ऽ । ऽ ऽ। । ऽ । ऽ। ऽ । ऽ। ऽ ऽ।। ऽ। ऽ। ऽ
किं ब्रूथ रे व्योमचरा ! महासुराः स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्तिनः।
। ऽ। ऽ ऽ। । ऽ। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ। ऽ
मदीय बाणव्रणवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता ः।।[1]

[1] कालिदास –कुमारसम्भव सर्ग– १५, पद्य–४०

प्रकृत उपजाति के प्रथम चरण इन्द्रवंशा का है, शेष तीनों चरण वंशस्थ के हैं, अतः यह उपजाति का प्रथम भेद 'कुमारी' का उदाहरण है।

२. ऽ ऽ । ऽ ऽ। । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ऽ ।। ऽ । ऽ। ऽ
इत्थं रथाश्वेभनिषादिनां प्रगे, गणो नृपाणामथ तोरणाद्बहिः।
ऽ ऽ । ऽ ऽ।। ऽ। ऽ । ऽ । ऽ। ऽ ऽ।। ऽ। ऽ। ऽ
प्रस्थानकालक्षमवेषकल्पना कृतक्षणक्षेपमुदैक्षताच्युतम्।।[1]

प्रथम तथा तृतीय चरण इन्द्रवंशा का तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण वंशस्थ का है, अत एव यह उपजाति का पञ्चम रूप 'शिशिरा' का है।

इसके सभी रूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु अनावश्यक विस्तार के भय से सभी रूप नहीं दिये जा रहे हैं।

प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार इन्द्रवज्रा– उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ– इन्द्रवंशा मिश्रित उपजाति हो सकती है, उसी प्रकार इन्द्रवज्रा–वंशस्थ आदि अन्य विषमाक्षर के साथ मिलकर उपजाति बन सकती है तथा त्रिष्टुपत्व एवं जगतीत्व का मेल या सङ्कर हो सकता है? उपजाति के सन्दर्भ में ये दोनों ही सम्भव नहीं है, क्योंकि उपजाति को सभी छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने समवृत्त के अधिकार में पढ़ा है। यदि एकादशाक्षरात्मक त्रिष्टुप् तथा द्वादशाक्षरात्मक जगती का मिश्रण उपजाति होगी, तो वह समवृत्त नहीं रह जायेगा, अपितु वह विषम वृत्त कहा जायेगा। दूसरी बात यह है कि यदि इन्द्रवज्रा और वंशस्थ के मिश्रण को उपजाति मानें, तो विषम और अर्द्धसम का उच्छेद हो जायेगा। फलस्वरूप पिङ्गलादि आचार्यों के द्वारा सम, अर्द्धसम तथा विषमवृत्त का विभाजन व्यर्थ हो जायेगा और 'अत्रानुक्तं गाथा'' आदि सूत्र के सन्दर्भ में सूत्रवैयर्थ्य का प्रसङ्ग आ पड़ेगा। साथ ही साथ छन्दोभङ्ग दोष निर्विषय हो

---

[1] महाकवि माघ, शिशुपाल वध र्स–१२, पद्य–१

जायेगा। अतएव समान या एक ही जाति के दो छन्दों के मिश्रण का स्थल ही उपजाति का स्थल होगा, असमान जाति के नहीं।

प्रश्न उठता है कि क्या संस्कृत काव्यों (पद्यों) में सभी जातियों के प्रस्तारगत सभी रूपों का प्रयोग हुआ है? इसका उत्तर कुछ इस तरह से दिया जा सकता है कि समवृत्त के उक्तादि से लेकर उष्णिक् तक तो केवल सैद्धान्तिक रूप ही है, उनकी गणना भेद प्रदर्शन के लिये ही की गयी है। वस्तुतः व्यवहार में या काव्यग्रन्थों में प्रयोग के छन्द नहीं बन सकें। अष्टाक्षर अनुष्टुप् जाति से लेकर इक्कीस अक्षर वाले पाद की जाति 'प्रकृति' तक के रूपों का ही प्रयोग महाकाव्य आदि ग्रन्थों में हुआ है। इनमें भी एक–एक जाति के बहुत कम रूपों का प्रयोग हुआ है।

प्रसङ्गप्राप्त अर्द्धसमवृत्त की भी चर्चा अपेक्षित है। अर्द्धसमवृत्त की तीन प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है।

प्रथम प्रवृति यह है कि सभी चरण हैं तो एक ही जाति के किन्तु प्रथम एवं तृतीय तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण के लक्षण समान होने के कारण अर्द्धसमवृत्त कहलाते हैं, यथा – उपचित्रा।

इसे हम उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं–

।। S। ।S।। S। S S।। S ।। S ।। S S
उपचित्रकमत्रविराजते चूतवनं कुसुमैर्विकसद्भिः।

।। S।। S।। S। S S। ।S। ।S। ।S S
परपुष्टविघुष्टमनोहरं मन्मथकेलिनिकेतनमेतत्।।

प्रकृत छन्द है तो त्रिष्टुप् जाति का ही, किन्तु प्रथम एवं तृतीय तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में लक्षण समान हैं, अतः यह एक ही जाति का अर्द्धसमवृत्त है।

दूसरी प्रवृत्ति यह है कि यह छन्द समवृत्त की ही दो जातियों का सङ्कर या मेल है, यथा द्रुतमध्या, हरिणप्लुता, अपरवक्त्र, वेगवती, भद्रविराट् तथा केतुमती । यथा–

द्रुतमध्या –

ऽ ।। ऽ। ।ऽ। ।ऽऽ ।।।।ऽ। । ऽ।।ऽऽ
यद्यपि शीघ्रगतिर्मृदुगामी बहुधनवानपि दुःखमुपैति।
ऽ ।।ऽ ।।ऽ । । ऽऽ ।।। ।ऽ ।।ऽ ।।ऽऽ
नातिशयत्वरिता न च मृद्वी नृपतिगतिः कथिता द्रुतमध्या

इस छन्द का प्रथम एवं तृतीय चरण त्रिष्टुप् जाति का ४३६ वाँ रूप'दोधक' का है तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण जगती जातिका ८८७वाँ रूप 'अभिनवतामरस (तामरस) का है, अतः यह दो असमान जाति त्रिष्टुप् एवं जगती का सङ्कर 'द्रुतमध्या' नामक अर्द्धसम वृत्त है।

हरिणप्लुता –

।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।ऽ । । ।ऽ।।ऽ ।।ऽ ।ऽ
स्फुटफेनचया हरिणप्लुता बलिमनोज्ञतटा तरणेः सुता।
।।ऽ। ।ऽ ।।ऽ ।ऽ ।।।ऽ ।।ऽ । ।ऽ।ऽ
कलहंसकुलारवशालिनी विहरतो हरति स्म हरेर्मनः।।

इस छन्द का प्रथम एवं द्वितीय चरण त्रिष्टुप् जाति का तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण जगती जाति का १४६४ वाँ रूप 'द्रुतविलम्बित' का है, अतः यह दो भिन्न भिन्न जातियों का सङ्कर है।

अपरवक्त्र –

। ।। ।। ।ऽ ।ऽ ।ऽ ।।।। ऽ । ।ऽ ।ऽ ।ऽ
सकृदपि कृपणेन चक्षुषा नरवर पश्यति यस्तवाननम्।

न पुनरपरवक्त्रमीक्षते स हि सुखितोऽर्थिजनस्तथाविधः।।

यह 'त्रिष्टुप् एवं जगती जातियों का मिश्रण रूप अपरवक्त्र छन्द है। इसे वैतालीय प्रकरण में पढ़ा गया है। यहाँ भद्रिका और श्येनिका का सङ्कर है।

३. तीसरी प्रवृत्ति यह है कि कतिपय अर्द्धसमवृत्त समवृत्त के अधिकार में पढ़े गये हैं, किन्तु विशेष सञ्ज्ञा विधान (यह स्पष्ट नहीं है) के लिये अर्द्धसमवृत्त में कथन कर दिया गया है, यथा–

आख्यानकी का उदाहरण–

ऽ ऽ। ऽ ऽ । । ऽ। ऽ ऽ । ऽ। ऽ ऽ ।। ऽ। ऽ ऽ
भृङ्गावलीमङ्गलगीतनादैर्जनस्यचित्ते मुदमादधाति।

ऽ ऽ। ऽ ऽ।। ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ। । ऽ । ऽ ऽ
आख्यानकीवस्मरजन्मवार्ता महोत्सवस्याम्रवणे क्वणन्ती।।

इस छन्द में प्रथम एवं तृतीय चरण इन्द्रवज्रा तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण उपेन्द्रवज्रा के हैं, अतः यह अर्द्धसमवृत्त त्रिष्टुप् जाति के ही प्रस्तारगत ३७५ वाँ रूप 'इन्द्रवज्रा' तथा ३५८ वाँ रूप 'उपेन्द्रवज्रा' मिश्रित उपजाति का दशम रूप 'भद्रा' ही है। यहाँ विशेष सञ्ज्ञा विधान के लिए अर्द्धसमवृत्त के अन्तर्गत इसकी गणना हुई है। इसी को उलट देने पर 'विपरीताख्यानकी' नामक अर्द्धसमवृत्त हो जायेगा। जो उपर्युक्त उप जाति का ही पञ्चम रूप 'हंसी' है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'आख्यानकी' आदि को आचार्यों ने अर्द्धसमवृत्त में क्यों परिगणित किया? इसका कारण आचार्यों ने 'विशेष सञ्ज्ञा विधान' कहा है, किन्तु विशेष सञ्ज्ञा विधान को स्पष्ट नहीं किया गया है। अगर उपजाति के उपर्युक्त 'भद्रा' आदि के दो नाम का कथन हो जाता तो अर्द्धसमवृत्त में इसकी परिगणना करने की आवश्यकता ही न पड़ती। 'पुष्पिताग्रा' छन्द भी दो भिन्न जातियों का सङ्कर है–

क्षणमपि विरहः पुरा न सेहे नयननिमीलनखिन्नया यथा ते।
श्वसिति कथमसौ रसालशाखां चिरविरहेण विलोक्य पुष्पिताग्राम्।।

इस छन्द की भी गणना अर्द्धसमवृत्त में 'विशेष सञ्ज्ञा विधान' के लिये की गयी है। इसे आचार्यो नें 'औपच्छन्दसिक' का अपर नाम माना है। 'औपच्छन्दसिक' छन्द मात्रिक छन्द है तथा 'पुष्पिताग्रा' अर्द्धसमवृत्त। दोनों ही छन्दों के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध में चौंतीस–चौंतीस मात्रायें होती हैं। यहाँ उपर्युक्त प्रश्न के अतिरिक्त एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि जब 'पुष्पिताग्रा' को 'औपच्छन्दसिक' माना तो अर्द्धसमवृत्त में परिगणित 'उपचित्रम्' को 'उपचित्रा' नामक मात्रिक छन्द क्यों नही माना ? यह बात सङ्गत नहीं प्रतीत होती।

विषमवृत्त –

क्रमप्राप्त विषमवृत्त का भी विवेचन अपेक्षित है। विषम वृत्त के चारों पादों के लक्षण भिन्न भिन्न हुआ करते हैं संस्कृत छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के द्वारा निरूपित विषम वृत्त में भी दो प्रवृत्तियाँ गोचर होती हैं–

प्रथम प्रवृत्ति यह है कि समवृत्त में गुरु–लघु का क्रमशः सन्निवेश है, वह विषम वृत्त में नहीं पाया जाता। इनमें अक्षरों का ही प्राधान्य है, यथा–पदचतुरूर्ध्वप्रकरण के प्रस्तारगत समस्त रूप इसी प्रवृत्ति के पोषक हैं। पदचतुरूर्ध्व विषम वृत्त का उदाहरण –

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
तस्याः कटाक्षविक्षेपैः

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
कम्पिततनु कुटिलैरतिदीर्घः।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
तक्षकदष्ट इवेन्द्रियशून्यः क्षतचैतन्यः,

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २०
पद चतुरूर्ध्व न चलति पुरुषः पतति सहसैव ।[1]

---

[1] छन्दः शास्त्र की हलायुधवृत्ति से

प्रकृत छन्द 'पदचतुरूर्ध्व' नामक विषम वृत्त है। इस छन्द को देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि इसके प्रत्येक चरण में अक्षरों का ही उपसंख्यान है, लघु–गुरु के क्रम का विशेष सन्निवेश नहीं है। इस छन्द की सञ्ज्ञा अन्वर्थक है। पदचतुरूर्ध्व के प्रस्तारगत २४ रूप बनते हैं–

क्रमाङ्क	प्रथम चरण अ० सं०	द्वितीय चरण अ० सं०	तृतीय चरण अ० सं०	चतुर्थ चरण अ० सं०	
१.	८	१२	१६	२०	पदचतु
२.	८	१६	१२	२०	–रूर्ध्व
३.	८	२०	१६	१२	
४.	८	१२	१६	२०	
५.	८	१६	२०	१२	
६.	८	२०	१२	१६	
७.	१२	८	१६	२०	
८.	१२	१६	८	२०	
९.	१२	२०	१६	८	
१०	१२	८	२०	१६	
११	१२	१६	२०	८	
१२	१२	२०	८	१६	
१३	१६	१२	८	२०	
१४	१६	८	१२	२०	
१५	१६	२०	८	१२	
१६	१६	१२	२०	८	
१७	१६	८	२०	१२	
१८	१६	२०	१२	८	
१९	२०	१२	१६	८	
२०	२०	८	१६	१२	
२१	२०	१२	८	१६	
२२	२०				
२३	२०	१६	१२	८	
२४	२०	८	१२	१६	

उपर्युक्त प्रस्तारगत रूपों की तालिका वृत्त रत्नाकर की भट्टीय व्याख्या में दी गयी है। तालिका को देखने से पता चलता है कि प्रत्येक चरण के अक्षरों की संख्या का प्रथम चरण में अवस्थित होने से प्रत्येक के छः–छः रूप बनते हैं। अतएव चार चरणों वाले इस 'पदचतुरूर्ध्व' छन्द के चौबीस रूप निर्मित होते हैं। प्रकृत प्रकरण में वर्णित मञ्जरी, लवली तथा अमृतधारा पदचतुरूर्ध्व के ही प्रस्तारगत क्रमशः ७वें, ८वें तथा ११वें रूप हैं।

दूसरी प्रवृत्ति विषमवृत्त छन्दों में गुरुलघु के विशेष संयोजन की है। यह प्रवृत्ति समवृत्त से मिलती है, यथा–उद्‌गता आदि विषमवृत्त, उदाहरण–

| | S | S | | | S | | | | | | S | S | S

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम्।[1]

S | | | | | | S S | S | | S | S | | | S | S | S

क्लान्तिरहितमभिराधायितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनञ्जयः ।।

इस उद्‌गता छन्द के प्रथम चरण में स, ज, स तथा लघु, द्वितीय चरण में न, स, ज तथा गुरु, तृतीय चरण में भ, न, ज, ल, ग तथा चतुर्थ चरण में स, ज, स, ज तथा गुरु हैं। यहाँ पर लघु–गुरु के क्रमशः सन्निवेश का विधान है। इसी तरह अन्य विषम वृत्तों में भी है। उद्‌गता छन्द का यह उदाहरण भारविकृत 'किरातार्जुनीयम' के बारहवें सर्ग का प्रथम पद्य है। महाकवि भारवि ने पूरा का पूरा द्वादश सर्ग 'उद्‌गता' छन्द में ही रचा है। उद्‌गता विषमवृत्त का प्रयोग बृहद् रूप से पहली बार उपलब्ध होता है।

---

[1] भारविकृत किरातार्जुनीयम्, सर्ग–१२, पद्य–१

मात्रिक एवं वार्णिक छन्दों में भेद–

दोनों प्रकार के छन्दों के निरूपण के पश्चात् मात्रिक एवं वार्णिक छन्दों में भेद की चर्चा अपेक्षित जान पड़ती है। मात्रिक छन्दों का सङ्गीत वार्णिक छन्द की तरह लघु–गुरु वर्णों के उच्चारण भेद पर निर्भर नहीं करता। मात्रिक छन्द लय–प्रधान हैं। मात्रिक छन्दों में वार्णिक छन्द की तरह न तो वर्णों की पादगत स्थूलतः गिनती होती है और न ही लघु–गुरु वर्णों के एक समान पादगत वार्णिक गणों का प्रयोग आवश्यक है। मात्रिक छन्दों की इकाई गण न होकर मात्रा है। यह मात्रा, ताल और लय से सम्बद्ध है। इसमें त्रिकात्मक गणों का प्रयोग नहीं होता, वरन् चतुर्मात्रिक गणों का ही उपसंख्यान होता है।

निष्कर्ष :–

इस प्रकार छन्दों के भेद–विवेचन में हमने देखा कि किस प्रकार वैदिक छन्दों का प्रभाव लौकिक छन्दों पर पड़ा तथा लौकिक छन्दों के मात्रिक के समवृत्त, अर्द्धसमवृत्त तथा विषमवृत्त एवं वार्णिक के सम, अर्द्धसम व विषम वृत्त के विविध रूप प्रस्तार आदि के माध्यम से निर्मित हुए। ये रूप छन्द के उदय के साथ अनेक परिवर्तन के दौर से गुजर कर विकसित हुए हैं। सभ्यता के विकास के साथ–साथ जो नयी–नयी समस्यायें आयीं और तदनुकूल वर्ण्य विषयों ने उनके कण्ठ–स्वरों को जिस तरह प्रभावित किया, उनकी परिणति वैदिक छन्द के रूप में हुई। पुनश्च छन्दों की कृत्रिमता से ऊबकर जन–साधारण के स्वरों का विलास साम (गीतों) के रूप में सामवेद में प्रस्फुटित हुआ। तत्पश्चात् क्रौञ्चद्वन्द्व के वियोग से मर्माहत करुणार्द्रचेता महर्षि वाल्मीकि के स्वर में जो नया विकार पैदा हुआ, उससे लौकिक छन्दों का प्रारम्भ हुआ जो आज तक अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। परवर्ती महाकवियों ने समय और परिस्थितियों के अनुसार वर्ण्य विषयों के परिवर्तनों को बहुत अधिक महत्त्व

नहीं दिया, जिस कारण समवृत्त के प्रस्तारगत रूपों में अत्यन्त कम रूप ही विकसित हो सके। मात्रिक छन्दों का अवलम्बन लेकर गोवर्धनाचार्य ने एक प्रयास शुरू भी किया था। गोवर्धनाचार्य ने आर्या नामक मात्रिक छन्द में 'आर्यासप्तशती' लिखी। ऐसी सुन्दर आर्यायें न तो इसके पहले किसी कवि ने लिखी और न बाद में ही। उनकी आर्या में प्रवाहमयता है एवं वह ललितपद योजना से सुपूरित है। गोवर्धनाचार्य ने स्वयं कहा है–

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयानि सारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः।।[१]

जो प्रयास गोवर्धनाचार्य ने शुरू किया था, उसका फल जयदेव के 'गीतगोविन्दम्' में प्रकट भी होने लगा था, लेकिन प्राचीनता के वाहक उसे स्वीकार नहीं कर सके। परिणामस्वरूप मध्यकाल (जयदेव के बाद से लेकर १९वीं शती तक) में यह प्रयास बिलकुल रुका हुआ दिखायी पड़ता है, यद्यपि इस बीच महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि का लेखन होता रहा, किन्तु पूर्व प्रचलित छन्दों में ही। संस्कृत–कवियों की अपेक्षा प्राकृत–कवियों ने बृहद् रूप से छन्दों के विविध रूपों का अपनी रचनाओं में प्रयोग किया। यदि संस्कृत–कवियों ने भी उन कण्ठस्वरों को पहचाना होता और नवनवोद्भूत छन्दों का प्रयोग किया होता, तो संस्कृत जनसाधारण से बहुत दूर न होती। आज संस्कृत–कवियों के द्वारा विविध छन्दों का प्रयोग किया जा रहा है, (जिसका विवेचन प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में 'आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्य एवं छन्द' शीर्षक में किया जायेगा) यह प्रसन्नता की बात है। वस्तुतः संस्कृत में गम्भीरता की कमी तो है नहीं, हाँ नवीनता का अभाव है, जिसे दूर करने के लिए आधुनिक संस्कृत–कवियों ने कमर कस ली है।

---

[१] आर्यासप्तशती, पद्य–५१

चतुर्थ अध्याय

छन्दों का नामकरण

चतुर्थ अध्याय

छन्दों का नामकरण

छन्दोविधान के प्रायोगिक विश्लेषण के सन्दर्भ में जब हम कुछ चर्चा करने चलते हैं, तो सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि संस्कृत–काव्यों में प्रयुक्त छन्दों के नामों की सार्थकता कहाँ तक सिद्ध होती है ? प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्योंकि संसार में जितने भी मूर्त, अमूर्त, जड, चेतन आदि पदार्थ हैं, उनके नाम में प्रायः उनके स्वरूप, व्यक्तित्व आदि कतिपय विशेषतायें निहित या परिलक्षित हुआ करती हैं।

नामों का वैशिष्ट्य :–

प्रस्तारगत वार्णिक छन्दों के विकसित विविध रूपों की संख्या असीमित है। इनमें से सभी रूपों का न तो कभी प्रयोग हो सकता था और न ही लक्षण–निरूपण। इनमें थोड़े से छन्द, जिनकी ओर महाकवियों का मन आकर्षित हुआ, वे ही काव्य–प्रयोग में प्रचलित हुए और इन प्रयुक्त छन्दों में से, जो छन्द आचार्यों को अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए, उनको उन्होंने अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में लक्षण–निरूपण का विषय बनाया।

आचार्य पिङ्गल, भरत, जयदेव, केदारभट्ट, हेमचन्द्र तथा गङ्गादास आदि छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने वार्णिक छन्दों के जिन नामों का कथन किये हैं, उन्हें नाम–वैशिष्ट्य के आधार पर तीन समूहों मे बाँट सकते हैं–

१. प्रथम समूह में उन नामों को रखा जा सकता है, जो स्त्रियोचित विशेषताओं के व्यञ्जक तथा कामिनी के अङ्गों के उपमान के रूप में भी व्याख्येय हैं, यथा– तनुमध्या, शशिवदना, रुक्मवती, मनोरमा, शालिनी, मञ्जुभाषिणी, सुन्दरी तथा प्रियम्वदा आदि। छन्दों के नामों में स्त्रीपरक नामों की अधिकता है। इस समूह में

छन्दों के उन नामों का भी अन्तर्भाव हो जाता है, जिनके बोधक शब्द प्राकृतिक दृश्य–व्यापारों से सम्बद्ध तथा शृङ्गारिक वातावरण के व्यञ्जक या उसके पोषक हैं, यथा– मत्ताक्रीडा, अनङ्गक्रीडा, कुसुमितलतावेल्लिता, पुष्पिताग्रा आदि। इन नामों के विषय में डॉ० शिवनन्दन प्रसाद का मन्तव्य है कि "इस प्रकार के छन्दों के नामकरण शायद उन शृङ्गारिक कवियों की देन है, जो अनुमानतः पिङ्गलाचार्य के युग में तथा कुछ पूर्व से नव–नव छन्दों के विविध प्रयोग कर रहे थे। किसी विशेष छन्द के नाम का सूचक शब्द, हो सकता है उसी छन्द में रचित काव्यानुच्छेद या पद्य में प्रेम या शृङ्गार वर्णन के प्रसङ्ग में प्रमुख रूप से आया है और बाद में लक्षणकार द्वारा उस छन्दो–विशेष के नाम के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।"[१]

२. छन्दों के नामकरण के दूसरे समूह में वे छन्द परिगणित किये जा सकते हैं, जिनका सम्बन्ध शृङ्गारेतर प्रकृति–व्यापार एवं पशु–पक्षियों से है, यथा– जलोद्धतगति, मत्तमयूर, भुजङ्गप्रयात, शार्दूलविक्रीडित, वंशपत्रपतित तथा चण्डवृष्टिप्रपात आदि। इस समूह में जिन–जिन छन्दों का परिगणन किया जाता है, वे जहाँ एक ओर प्राकृतिक दृश्य–व्यापारों के सूचक हैं, वहीं दूसरी ओर उन छन्दों की विशेष गति–भङ्गिमा या लक्ष्य–वैशिष्ट्य के व्यञ्जक भी। इसके अन्तर्गत छन्दों के नामकरण में छन्दों की गति–लय से तुलनीय प्राकृतिक उपकरणों तथा पशु–पक्षियों आदि के नाम के आधार पर छन्दों के नाम से ही उनकी गति–लय की यथासम्भव अभिव्यञ्जना होती है।

३. तीसरा समूह उन छन्दों के नामों का है, जिनका सम्बन्ध न तो शृङ्गारिक कामिनी के अङ्ग–विच्छित्ति से है और न ही शृङ्गारेतर प्राकृतिक दृश्य–व्यापार आदि से,

---

[१] 'मात्रिक छन्दों का विकास' पृष्ठ संख्या – १३८

अपितु छनदोगत साङ्गीतिकता, गति–लय तथा रचना–वैशिष्ट्य की व्यञ्जकता से है, यथा– द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा तथा पदचतुरूर्ध्व आदि। छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में ऐसे छन्द बहुत कम हैं, जिनके नाम का अन्तर्भाव उपर्युक्त तीनों समूहों में न हो सके, यथा– असम्बाधा आदि।

नामों की अर्थवत्ता :–

यद्यपि छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने छन्दों के नामकरण में कोई आयास नहीं किया, अपितु कल्पना का ही आश्रय लिया है, किन्तु महाकवियों के प्रयोग–विषय, नामों की व्युत्पत्ति एवं उच्चारण ध्वनि के आधार पर छन्दों के नामों की अर्थवत्ता सिद्ध की जा सकती है। इसके लिये हम सबसे पहले अनुष्टुप् छन्द को लेते हैं ।

अनुष्टुप् का अर्थ है– सरस्वती या विद्यारूपिणी शक्ति[1] अर्थात् वह ज्ञान जिसके उदय होने पर भव–बन्धन छूट जाता है। संस्कृत के महाकवि भी अपनी रचना या कविकर्म को मोक्ष–प्राप्ति का साधन मानते हैं। यही कारण है कि अनेक ग्रन्थों चाहे वे पुराण हों या रामायण, चाहे महाभारत या अन्य कोई पद्य–ग्रन्थ, सर्वत्र अनुष्टुप् छन्द की बहुलता है। उपदेश–वाक्य भी अप्रत्यक्ष रूप से मोक्ष–प्राप्ति का माध्यम बन सकते हैं, इसीलिए तो क्षेमेन्द्र अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ 'सुवृत्ततिलक' में अनुष्टुप् छन्द के प्रयोग–विषय की चर्चा करते हुए कहते हैं कि सर्गबन्ध के आदि में, कथाप्रारम्भ करने के प्रसङ्ग में तथा वैराग्यजनक उपदेश के लिए प्रयुक्त विभिन्न छन्दों के अन्त में अनुष्टुप् छन्द के ही प्रयोग की अनुमति विद्वान् लोग देते हैं–

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तारसङ्ग्रहे।
समोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम्।।[2]

---

[1] वामन शिवराम आप्टे –संस्कृत हिन्दीकोश पृष्ठ –४३

[2] सुवृत्ततिलक विन्यास–३, पद्य–१६

संस्कृत–काव्यग्रन्थों में अनुष्टुप् छन्द का सर्वाधिक प्रयोग देखा जाता है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश का प्रारम्भ ही अनुष्टुप् छन्द से किया है तथा सम्पूर्ण प्रथम सर्ग इसी छन्द में निबद्ध है।

भवभूति ने अपनी नाट्यकृति उत्तरारामचरित में मङ्गलाचरण अनुष्टुप् छन्द में ही किया है। इसके अतिरिक्त विविध शास्त्रीय ग्रन्थों तथा अन्य स्थलों पर जितना अधिक अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है, उतना किसी अन्य छन्द का नहीं। अनुष्टुप् छन्द की लघुता, सुगमता, एवं सुग्राह्यता इसके अपनाने में बहुत बड़े कारण हैं। यदि अनुष्टुप् की व्युत्पत्ति अनु उपसर्गपूर्वक स्तुभ् धातु से मानें, तब इसका अर्थ होगा– स्तब्ध हो जाना या स्थिर हो जाना अर्थात् अनुष्टुप् का ज्ञान हो जाने पर अन्य विषयों से उपरम की प्राप्ति हो जाती है। अन्य शब्दों में, जब कवि अनुष्टुप् छन्द में रचना करने लगता है, तब कवि स्तब्ध या शान्त मन वाला होकर अपने कर्म की ओर अर्थात् अनुष्टुप् छन्द में रचना हेतु प्रवृत्त हो जाता है। अतः अनुष्टुप् छन्द की अर्थवत्ता सिद्ध होती है।

अनुष्टुप् के बाद संस्कृत–काव्यों में जो छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ, वह है–इन्द्रवज्रा आदि। इन्द्रवज्रा का शाब्दिक अर्थ है– इन्द्र के वज्र के समान कठोर। यहाँ पर यह अर्थ सङ्गत नहीं बैठता। इसे हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि जिस प्रकार वज्र हृदय में गहराई तक पहुँचकर उसके मर्म को बींध देता है, उसी प्रकार इन्द्रवज्रा आदि छन्द भी महाकवियों के हृदय में प्रवेश कर अपनी मधुरिम लय के द्वारा अन्तस्तल में दृढ़ता के साथ बैठ जाता है अर्थात् जब कवियों का ध्यान इन्द्रवज्रा आदि छन्द की ओर जाता है, तब वह कवियों को अपनी सरल शैली आदि गुणों के द्वारा आकर्षित करता है, फलस्वरूप कवि बलात् आकृष्ट होकर अपने प्रतिपाद्य विषय का अधिकाँश भाग इन्द्रवज्रा आदि छन्दों में ही प्रस्तुत करने के लिए

विवश हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रवज्रा आदि छन्दों की अर्थवत्ता सिद्ध की जा सकती है। इन्द्रवज्रा छन्द का उदाहरण–

वध्नाति रक्तोत्पलरश्मिदन्त शोणद्युतिर्निर्झरवारिवीथी।

अथेन्द्रवज्राहतशैलकुञ्जकीलाललक्ष्मीं बहु–धातुभङ्गौ।।[1]

द्रुतविलम्बित छन्द की सञ्ज्ञा अन्वर्थक है। इस छन्द का पाठ करते समय पहले द्रुतगति से और बाद में विलम्बित अर्थात् देर से ध्वनि उच्चरित होती है। पाठ करते समय इस बात का अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिये, अन्यथा इस छन्द की सुन्दरता का उच्छेद हो जायेगा। द्रुतविलम्बित छन्द का एक उदाहरण–

तरणिजापुलिने नववल्लवी–परिषदा सह केलि–कुतूहलात्।[2]

द्रुतविलम्बित–चारुविहारिणं, हरिमहं हृदयेन सदा वहे।।

इस छन्द की सबसे बड़ी विशेषता इसकी साङ्गीतिकता है। शास्त्रीय सङ्गीत में जिस तरह गायन करते समय द्रुत एवं विलम्बित (तीव्र एवं मन्द) स्वरों का प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार इस छन्द की प्रस्तुति में स्वर में तीव्रता एवं मन्दता आती है।

'शार्दूलविक्रीडित' एक समस्त पद है, जिसका अर्थ है– शार्दूलात् विक्रीडितम् अर्थात् सिंह से डरा हुआ अथवा भाव अर्थ में 'डरना'। 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द की भी सार्थक सञ्ज्ञा है। महाकवियों के प्रयोग–विषय के आधार पर हम इसकी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं। जिस प्रकार शार्दूल अर्थात् व्याघ्र वन के भयावने रूप का प्रतीक है, उसी प्रकार छन्दों में यह छन्द भी भयावने रूप (विशेष रूप से प्रकृति के भयावने रूप) का बोध कराता है। संस्कृत काव्यों में प्रायः इसी रूप को अभिव्यञ्जित कराने के लिए प्रकृत छन्द का प्रयोग किया गया है। एक अन्य प्रकार से भी हम इसकी

---

[1] बाग्भट नेमिनिर्वाणम्, सर्ग–७, पद्य–१७

[2] गङ्गादासकृत छन्दोमञ्जरी

सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं। शार्दूल का अर्थ है व्याघ्र। व्याघ्र की प्लुति (कूद) बारह हाथ की मानी जाती है। चूँकि इस छन्द में बारह अक्षरों पर यति होती है, अतएव इसका नाम 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द पड़ा होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से इसका नाम उपपन्न है। उदाहरण उत्तररामचरित से –

गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारवत्कीचक–

स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः।

एतस्मिन्प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै–

रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः।।[1]

इस तरह प्रायः इस छन्द में दीर्घसमासवत्ता होती है, परन्तु अनेक अपवाद भी उपलब्ध होते हैं और कदाचित् असमस्त पदावली का प्रयोग भी मिलता है।

शिखरिणी :–

महाकवियों ने प्रायः शान्त एवं भक्ति भाव को प्रकाशित करने के लिए 'शिखरिणी' को उपयुक्त छन्द माना है। 'शिखराणि सन्ति अस्यामिति शिखरिणी' अर्थात् शिखर है जिस पर ऐसी छोटी पहाड़ी के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे कोई व्यक्ति ऊँची चोटियों वाले पर्वत पर चढ़ता जाता है, उसी प्रकार इस छन्द के आश्रय से कवि एवं पाठक दोनों भक्ति भाव की ऊँचाई पा लेता है। दूसरी दृष्टि से भी इसकी अर्थवत्ता उपपन्न हो सकती है। यदि शिखारिणी का अर्थ उच्च स्थल या पर्वत लें, तो यह कहा जा सकता है कि पर्वतीय वातावरण की अपेक्षा शान्त वातावरण कहीं नहीं मिल सकता तथा आराध्य की आराधना के लिये शान्तिमय वातावरण का होना आवश्यक है। अतः प्रयोग–विषय के आधार पर 'शिखरिणी' छन्द का नाम उपपन्न हो सकता है।

---

[1] उत्तरराम चरित, अङ्क–२, पद्य–२९

भुजङ्गप्रयात :–

'भुजङ्गप्रयात' छन्द का लक्षण है 'भुजङ्गप्रयातं भवेद्यैश्चतुर्भिः' अर्थात् चार यगणों वाला छन्द भुजङ्गप्रयात कहलाता है। इस छन्द का पाठ करते समय उच्चारण की ध्वनि ऐसी प्रतीत होती है जैसे छन्द की गति भुजङ्ग अर्थात् सर्प की गति का अनुकरण कर रही है, अतः इसे 'भुजङ्गप्रयात' छन्द कहते हैं– उदाहरण छन्दोमञ्जरी से –

सदारात्मजज्ञातिभृत्यो विहाय स्वमेतं ह्रदं जीवनं लिप्समानः।

मया क्लेशितः कालियेत्थं कुरु ! त्वं भुजङ्ग ! प्रयातं द्रुतं सागराय।।

इसी प्रकार भुजगशिशुभृता तथा भुजङ्गसङ्गता नाम भी उपपन्न हो सकते हैं।

मञ्जुभाषिणी :–

मञ्जुभाषिणी का अर्थ है– मधुर बोलने वाली। इस छन्द की रचना में अत्यन्त माधुर्य एवं पदलालित्य रहता है, जिस कारण इसका नाम 'मञ्जुभाषिणी' रखा गया होगा। उदाहरण, भवभूति के उत्तररामचरित से –

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां,

समनन्दयत् सुमुखि गौतमार्पितः।

अयमागृहीतकमनीयकङ्कणः,

तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः।।[1]

मन्दाक्रान्ता :–

मन्दाक्रान्ता का अर्थ है:– मन्दं–मन्दं क्रामन्ती गच्छन्तीति मन्दाक्रान्ता अर्थात् धीरे–धीरे गमन करने वाली। इस छन्द का रुक–रुक कर पाठ किया जाता है,

---

[1] उत्तररामचरित, अङ्क–१, पद्य–१८

क्योंकि चार, छः एवं सात अक्षरों पर यति होती है। इसी विशेषता के कारण महाकवियों ने इसे विप्रलम्भ भाव को अभिव्यञ्जित करने वाले छन्द के रूप में मान्यता दी, यथा–

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी,
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श।।[1]

वंशपत्रपतित :–

'वंशपत्रपतित' के दो अर्थ हो सकते हैं – बाँस के पत्ते पर गिरी हुई या गिरते हुए बाँस के पत्ते। दोनों ही अर्थ उपपन्न हो सकते हैं। इस छन्द का पाठ करते समय उच्चारण ध्वनि उसी तरह से निकलती है, मानों कोई वस्तु बाँस के पत्ते पर गिर रही हो या बाँस का पत्ता टूटकर गिर रहा हो। उदाहरण –

नूतनवंशपत्रपतितं रजनिजललवं,
पश्य मुकुन्द ! मौक्तिकमिवोत्तममरकतगतम्।
एषां च तं चकोरनिकरः प्रपिबति मुदितो,
वान्तमवेत्य चन्द्रकिरणैरमृत कणमिव।।[2]

स्रग्धरा :–

स्रग्धरा का अर्थ है– माला को धारण करने वाली। इस छन्द में कवि अपनी बात को स्रक् अर्थात् माला–रूप में विस्तार के साथ कहता है। यह एक ऐसा विशिष्ट छन्द है, जिसके इक्कीस अक्षरों का विभाजन यति की दृष्टि से सात–सात अक्षरों में

---

[1] कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, पद्य–२
[2] गङ्गादास–छन्दोमञ्जरी

बराबर किया गया है और इस तरह सात–सात अक्षरों की समानाकार वाली तीन मालाएं बन जाती हैं। नामग्रहण पूर्वक स्रग्धरा छन्द में ही जयदेव के 'गीतगोविन्दम्' से एक पद्य दृष्टव्य है–

'व्यालोलः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेनलोलौ कपोलो,
स्पष्ट–द्रष्टाधरश्रीः कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टिः।
काञ्ची काञ्चिद्गताशां स्तनजघनपादं पाणिनाच्छाद्य सद्यः,
पश्यन्ती चात्मरूपं तदपि विलुलितं स्रग्धरेयं धुनोति।।[1]

चण्डवृष्टिप्रपात :–

चण्डवृष्टिप्रपात नामक दण्डक छन्द की भी सार्थकता सिद्ध होती है, जिसका अर्थ है– घनघोर वृष्टि का होना अर्थात् प्रचण्ड वृष्टि के गिरने के समान ही इसके उच्चारण में ध्वनि निकलती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रचण्ड या घनघोर वृष्टि हो रही हो, यथा–

कठिन–गवल–कज्जल–श्यामल–श्रीभृतामद्भुतैर्धातुभिर्भ्राजमाना वनौ,
रव–भर–कलिता वृहन्मर्दलाडम्बराणां ततस्तोक–पुष्पौध–लीलातरौ।
कनक–निकष–भास्वराकार–विद्युल्लता–मण्डितानाममुष्मिन् विशाले गिरौ,
विबुधमिथुनकैर्गुहासु स्थितैर्नीयते चण्डवृष्टिर्घनानां क्वणत्तुम्बरौ।।[2]

मत्तमयूर :–

'मत्तमयूर' का अर्थ है –मतवाले मोर वाला, अर्थात् मतवाले मोर के नृत्य की तरह यह सुशोभित होता है, अत एव इसे मत्तमयूर छन्द कहा जाता हैं। अन्य शब्दों

---

[1] गीतगोविन्द, सर्ग–१२, पद्य–६

[2] वाग्भट नेमिनिर्वाणम्–सर्ग–७, पद्य–४६

में, जैसे मतवाले मोर का नर्तन सभी को अच्छा लगता है, उसी प्रकार इस छन्द को सुनकर श्रोता आनन्दित होता है। यथा–

लीलानृत्यन्मत्तमयूरध्वनिकान्तं नृत्यन्नीपामोदिपयोदानिलरम्यम्।
रासक्रीडाकृष्टमनागोपवधूभिः कंसध्वंसी निर्जनवृन्दावनमाप।।[१]

प्रियम्वदा :–

प्रियम्वदा का अर्थ है– प्रिय बोलने वाली, अर्थात् इस छन्द का पाठ करने में उच्चारण की ध्वनि अत्यन्त प्रिय निकलती है, अतएव इसका नाम प्रियम्वदा पड़ा होगा–

हसिततामरसनेत्रसारसा,
रजनिवल्लभमुखालिकुन्तला।
स्मितवती पतिहितैकमानसा,
सुकृतिनो हि दयिता प्रियम्वदा।।

मणिमध्या :–

मणिमध्या छन्द के स्वरूप में मध्य में मगण स्थित होता है, अतः इसी कारण से इसका नाम 'मणिमध्या' पड़ा होगा–

कालियभोगाभोगगतस्तन्मणिमध्यस्फीत रुचा।
चित्रपदाभो नन्दसुतश्चारु ननर्त स्मेरमुखः।।

तनुमध्या :–

इस छन्द के ठीक मध्य में दो अक्षर लघु होते हैं। अतः मध्य में लघु अर्थात् क्षीणकटि वाली नायिका के समान कृश होने के कारण इसे तनुमध्या कहा गया होगा–

---

[१] गङ्गादास – छन्दोमञ्जरी

मूर्तिर्मुरशत्रोरत्यद्भुतरूपा।

आस्तां ममचित्ते नित्यं तनुमध्या।।

जलोद्धतगति :–

इस छन्द के नाम की अर्थवत्ता हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं कि – जलाशय से जल के उठने में जैसी गति होती है, वैसी ही स्थिति इस छन्द के पाठ में होती है। इसीलिए इसे यह सञ्ज्ञा दी गयी होगी, उदाहरण–

यदीयहलतो विलोक्य विपदं कालिन्दतनया जलोद्धतगतिः।

विलासविपिनं विवेश सहसा करोतु कुशलं हली स जगताम्।।[1]

पदचतुरूर्ध्व :–

'पदचतुरूर्ध्व' नामक छन्द की संज्ञा स्वरूप की दृष्टि से अन्वर्थक है, क्योंकि इसके प्रत्येक पाद में क्रमशः चार–चार वर्ण अधिक होते जाते हैं–

कुसुमित सहकारे,

हतहिममहिमशशाङ्के।

विकसितकमलसरसि मधुसमयेऽस्मिन्,

प्रवससि पथिकहतक ! यदि भवति तव विपत्तिः।।

मात्रासमक :–

मात्रासमक नामक मात्रिक छन्द की भी संज्ञा अन्वर्थक है। इसका अर्थ है– समान मात्राओं वाला। इस छन्द के प्रत्येक चरण में समान मात्रायें हुआ करती हैं। इसीलिए इस छन्द का नाम 'मात्रासमक' रखा गया होगा।

---

[1] छन्दोमञ्जरी

निष्कर्ष :–

इस प्रकार हम देखते हैं कि कतिपय छन्दों के नामकरण की सार्थकता स्वरूप, पाठ की गति तथा व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की दृष्टि से सिद्ध की जा सकती है, किन्तु अधिकांश छन्दों के नाम किस आधार पर रखे गये हैं, यह स्पष्ट नहीं होता। जहाँ तक छन्दों के नामकरण का प्रश्न है, छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने सुन्दरता को ही ध्यान में रखकर नामकरण किया होगा। यह संयोग की ही बात कही जा सकती है कि नाम एवं उसकी अर्थवत्ता दोनों एक साथ छन्द में घटित हो गये हों। छन्दों के नामों को देखें तो उनमें दो प्रकार के नामों की बहुलता परिलक्षित होती है– पहला स्त्रीपरक नाम तथा दूसरा प्राकृतिक वस्तुपरक नाम। इन दोनों के नामों में सौन्दर्य एवं लालित्य ही दिखायी देता है। ऐसे छन्द बहुत कम हैं जिनके नामों में कठोरता की गूँज सुनायी पड़े। अतः हम यह कह सकते हैं कि आचार्यों ने जब भी छन्द का नामकरण किया होगा, उन्होंने सौन्दर्य एवं लालित्य को ही ध्यान में रखकर किया होगा, न कि उसकी अर्थवत्ता को।

पञ्चम अध्याय
छन्द
एवं
भाव

पंचम अध्याय

छन्द एवं भाव

छन्द एवं भाव में अन्तः सम्बन्ध :-

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत 'छन्दस् शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ' इस उपशीर्षक में छन्द के विविध अर्थों का विवेचन हुआ। उन विविध अर्थों में से छन्द का एक अर्थ है– 'आच्छादन करना।' यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसका आच्छादन ? इसका उत्तर इसकी व्युत्पत्ति में ही निहित है– 'छन्दयति संवृणोति भावानिति छन्दः' अर्थात् छन्द भावों या नाना वर्ण्य विषयों को अपने में आच्छादित किये रहता है। छन्द का दूसरा अर्थ है– 'आह्लादित होना।' पद्यबन्ध की जाति भी 'छन्द' कहलाती है। पद्य की विभिन्न आकृति छन्द द्वारा ही प्रकट होती है और उसके द्वारा मन का भी आह्लादन होता है। भाषा में आनन्द या रसोद्बोध न हो, तो वह कविता न होगी। मन के विभिन्न भावों को व्यक्त करते समय कवि विभिन्न छन्दों में वाक्य–रचना करते हैं। उस समय छन्द के ताल–ताल पर ऐसा स्पन्दन होता है, जिससे हमारी तदनुकूल मनोवृत्तियाँ भी स्पन्दित होने लगती हैं। जो मन में सुषुप्ति की अवस्था या बीज की अवस्था में रहता है, वह जब प्रकाशोन्मुख होता है, तभी उसकी गति (भाव) का हम अनुभव करते हैं, वह गति ही छन्द का रूप धारण करती है। हम स्वेच्छानुसार प्रायः काव्य (पद्य) रचना किया करते हैं, परन्तु कभी–कभी उनमें भाव–शुद्धि का अभाव हो जाता है और तब आकार में कविता होने पर भी वह यथार्थ कविता नहीं होती। कविता तभी सत्य होती है, जब हम एक विशेष भाव से अनुप्राणित हुआ करते हैं और जब उस अनुप्राणन क्रिया को हम भावों में व्यक्त करना चाहते हैं, तब तदनुकूल छन्द भी अपने आप स्फुटित हो उठते हैं। छन्द

वस्तुतः एक अद्‌भुत शक्ति है। युद्ध के समय रणभेरी आदि बाजे भी छन्द में बजते हैं और उसके श्रवण मात्र से योद्धाओं के सोये हुए मनोवेग जाग उठते हैं। फलतः अनका ह्रदय युद्ध के लिए नाच उठता है। युद्ध में मृत्यु हो सकती है, यह भय उस समय उनके ह्रदय से दूर हो जाता है। अतः हमारे अन्तःकरण में अनेक भाव सुषुप्तावस्था में पड़े रहते हैं, उन्हें सुर, तान व राग के द्वारा प्रबुद्ध किया जाता हैं। जिस प्रकार सङ्‌गीत के सुर, ताल और लय के द्वारा अन्तःकरण की सोयी हुई मनोवृत्तियाँ जग जाती हैं, उसी प्रकार छन्द भी एक निश्चित वर्णों की संख्या में लय आदि के द्वारा भावों को उद्‌बुद्ध करते हैं। अगर हम यह कहें कि भावों के प्रस्फुटन के एक मात्र साधन 'छन्द' ही हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अवश्य ही छन्द बाहर से तो कुछ अक्षरों या वर्णों की योजना मात्र होते हैं, किन्तु ये गागर में सागर की तरह भावों को भरने की क्षमता रखते हैं। अन्य शब्दों में, छन्दों का अन्तस्तल भावों से आच्छादित रहा करता है। उदाहरणार्थ लौकिक छन्द में तो नहीं, किन्तु वैदिक छन्द में हम 'गायत्री' छन्द को लेते हैं। बाहर से देखने पर तो छः अक्षरों वाला वैदिक छन्द विशेष है, परन्तु इसमें आध्यात्मिक शक्ति का भाव निहित है– 'गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृता' अर्थात् जो गान या अन्तःस्फुरित शक्ति उपासक को भवबन्धन से मुक्त करती है, वह गायत्री छन्द है। हाँ, लौकिक छन्द के रूप में 'गायत्री' छन्द भावों के प्रकाशन में समर्थ नहीं हुआ। एक दूसरे छन्द 'अनुष्टुप्' को लेते हैं। अनुष्टुप् का अर्थ है – सरस्वती या विद्यारूपिणी शक्ति[१] अर्थात् वह ज्ञान जिसके उदय होने पर भवबन्धन छूट जाता है। लौकिक संस्कृत छन्द का "मा निषाद ! ...." उदय भी इसी भाव का लेकर हुआ। महर्षि वाल्मीकि के मुख से अकस्मात् जो छन्द निकला, वह अनुष्टुप् छन्द ही है, जिसमें करुणा का भाव

---

[१] वामन शिवराम आप्टे– संस्कृत–हिन्दी कोश

स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, जो संसार से विरक्ति का एक कारण भी है। विरक्ति ही भवबन्धन से छूटने की शर्त है। यही कारण है कि छन्द अनादि काल से नाना वर्ण्य विषयों एवं भावों को अपने में आच्छादित किये हुए अबाध गति से बहती हुई कल–कल निनादिनी ह्रादिनी के समान मानवों के अन्तस्तल को उर्वर बनाता आ रहा है।

रसभावानुसारी छन्दों का प्रयोग :–

संस्कृत–छन्दों का संघटन निश्चित रूप से रसों और भावों के अनुकूल होता है। कतिपय विशेष प्रकार के छन्द विशेष प्रकार के रसों और भावों को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं, जिनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है–

सर्वप्रथम हम 'आर्या' नामक मात्रिक छन्द को लेते हैं। महाकवियों ने सामान्य रूप से 'प्रेम' भाव के प्रकाशन में 'आर्या' छन्द को उपयुक्त माना। आगे चलकर 'आर्या' लोक संस्कृति का छन्द बना, जिसमें प्रेम सम्बन्धी भावनाओं का प्रकाशन दिखायी देता है। महाकवि कालिदास ने प्रेम सम्बन्धी भावनाओं को प्रकाशित करने के लिए 'आर्या' का ही आश्रय लिया हैं।[१]

मन्दाक्रान्ता नामक वर्णवृत्त को यदि हम विरह का छन्द कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि छन्द का स्वरूप ही कुछ ऐसा होता है, जो वियोगावस्था के चित्र को प्रस्तुत करता है। कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण आदि महाकवियों ने इस छन्द का प्रयोग श्रृङ्गार रस, विशेष रूप से वियोग श्रृङ्गार रस के भाव को प्रकाशित करने के लिए किया है। महाकवि कालिदास ने इस छन्द का प्रयोग जिस सुन्दरता एवं प्रचुरता से किया है, उतना संस्कृत का कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। कालिदास ने अपने सम्पूर्ण 'मेघदूत' नामक खण्ड काव्य (गीतिकाव्य) की रचना

---

[१] अभिज्ञान शाकुन्तल प्रारम्भ के तीन अङ्क

केवल इसी एक ही छन्द में की है। उन्होंने 'मन्दाक्रान्ता' नामक एक ही छन्द में 'मेघदूत' की रचना कर संस्कृत–कवियों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है। विरह भाव को व्यक्त करने वाले मन्दाक्रान्ता छन्द की रचना इतनी भावमयी, चित्ताकर्षक एवं आह्लादक है कि एक दो उदाहरण देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते –

'शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता–
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृश्य–
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह।।[१]

इस श्लोक में यक्ष की वर्तमान दशा की पूर्वदशा से तुलना करके उसकी विवशता प्रकट की गयी है। जो यक्ष सखियों के समक्ष स्पष्ट शब्दों में कहने योग्य बात को भी अपनी प्रिया के मुख के स्पर्श–लोभ से उनके कान में कहने के लिए उत्सुक रहा करता था, अब वही यक्ष, जब वह इतनी दूर है कि न तो वह प्रिया की बात को कानों से सुन ही सकता है और न उसे अपने नेत्रों से देख ही सकता है, प्रिया से अपना संदेश मेघ द्वारा कहलवाने के लिए विवश है।

दूसरा उदाहरण –

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया–
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः।।[२]

---

[१] मेघूदत, उत्तरमेघ,पद्य– ४३

[२] मेघदूत, उत्तरमेघ, पद्य–४५

यहाँ पर यक्ष ने मेघ से कहलवाया है कि वह चित्र में बनायी गयी मान में रूठी हुई प्रिया के चरणों में गिरकर मनाने की चेष्टा द्वारा मनोविनोद करना चाहता है, परन्तु दैव को वह भी स्वीकार्य नहीं है।

महाकवि कालिदास की तरह अन्य महाकवियों ने भी अनेक संदेश काव्य तथा दूतकाव्य लिखे हैं। हिन्दी में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी 'पवनदूतिका' (प्रियप्रवास) मन्दाक्रान्ता छन्द में ही लिखा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्दाक्रान्ता विरही प्रेमियों के हृदय की बात को कहने वाला छन्द बन गया है। यह विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस के कथानकों, वर्षाऋतु के वर्णन, प्रवास, परदेशगमन तथा वासनादिकों के भाव को प्रकट करने में समर्थ दिखलायी पड़ता है। मन्दक्रान्ता के प्रयोग के विषय में क्षेमेन्द्र का भी कथन है कि वर्षा और प्रवास के व्यसन में मन्दाक्रान्ता अच्छी लगती है– ''प्रावृट्–प्रवास–व्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते।''[1]

आन्तरिक भावों को साधारण ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए 'मालिनी' छन्द महाकवियों की दृष्टि में सर्वाधिक उपयुक्त है। मालिनी छन्द के आरम्भ में दो नगणों का आना और उसके बाद का संयोजन भी बड़ा भावपूर्ण है। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क में राजा दुष्यन्त को कोमल मृग पर बाण छोड़ने के लिये जो ''न खलु न खलु'' कहकर तापस द्वारा निषेध किया गया है, उसमें उनका त्वरायुक्त चिन्ता–भाव अच्छी तरह व्यक्त होता है। यह आन्तरिक भाव प्रायः श्रृङ्गार से ही सम्बद्ध हुआ करता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अङ्क में जब पहली बार दुष्यन्त शकुन्तला को देखता है, तब शकुन्तला के सौन्दर्य के प्रति उसके जो आन्तरिक भाव उमड़ते हैं, उन्हें वह 'मालिनी' छन्द में ही प्रकट करता है, यथा–

---

[1] सुवृत्ततिलक, विन्यास–३, पद्य–

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।[1]

आन्तरिक भावों के प्रकाशन में भवभूति के उत्तररामचरित में 'मालिनी' वृत्त का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग दर्शनीय है। प्रथम अङ्क में चित्रदर्शन के दौरान जब राम विन्ध्य–वन में गोदावरी नदी के किनारे पहुँचते हैं, तब वे सीता से कहते हैं कि समीप होने के कारण कपोलों से कपोल मिलाये हुए धीरे–धीरे, असम्बद्ध बातें करते हुए रात व्यतीत हो जाया करती थी, इस बात को भवभूति ने मालिनी वृत्त में आच्छादित किया है–

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा–

दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।

अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो–

रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यंरसीत्।।[2]

एक स्थल और देखिये जब राम चन्द्रकेतु और लव के मध्य युद्ध के बाद लव को देखकर राम के अन्दर अन्तर्निहित भाव मालिनी वृत्त में ही प्रकट होता है, यद्यपि यह भाव श्रृङ्गार से सम्बद्ध नहीं है, फिर भी अन्यन्त सुन्दर प्रयोग है–

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु–

र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।

विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं

द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।।[3]

---

[1] अभिज्ञान शाकुन्तल, अङ्क–प्रथम, पद्य–

[2] उत्तररामचरितम्, अङ्क–१, पद्य–२७

[3] वही अङ्क– ६,पद्य–१२

इसके अतिरिक्त वियोग में प्रेम–भाव क चित्रण में भी 'मालिनी' वृत्त उपयुक्त पाया जाता है। श्रीमद्भागवत पुराण का वह प्रसिद्ध उपाख्यान, जिसमें गोपियाँ श्रीकृष्ण के सखादूत उद्धव को 'भ्रमर' कहकर सम्बोधित करती हैं, 'मालिनी' वृत्त में ही है। 'भ्रमर' के कारण इस उपाख्यान को साहित्य में 'भ्रमरगीत' के नाम से जाना जाता है[1], यथा–

मधुप कितवबन्धो ! मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः

कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।

वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं,

यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्।।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा,

सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।

परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा,

ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक भावों के कोमल पक्ष को चित्रित करने में 'मालिनी' वृत्त ही उपयुक्त है, चाहे वह शृङ्गार सम्बद्ध, हो चाहे सामान्य आन्तरिक भाव।

दीर्घ छन्दों में ओजभाव को प्रकाशित करने वाला छन्द है– स्रग्धरा। यह यद्यपि मन्दाक्रान्ता और मालिनी की भाँति अन्तस्तल की मार्मिक भावनाओं को प्रकाशित नहीं कर सकता, तो भी जहाँ पर ओजभाव तथा भयङ्कर झञ्झावातों का भाव अभिप्रेत हो, वहाँ यह सबसे उपयुक्त छन्द है। साथ ही स्रग्धरा छन्द में किसी के विस्तृत स्वरूप को व्यक्त किया जा सकता है। कालिदास ने तो भट्ट नारायण और भवभूति की अपेक्षा इस छन्द का प्रयोग कम किया है, किन्तु महाकवि बाण ने

---

[1] श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्द–१०, अध्याय–४७, पद्य–१२ तथा १३

'चण्डीशतक' नामक ग्रन्थ में भगवती चण्डी की स्तुति पूरे सौ श्लोकों में केवल इसी स्रग्धरा छन्द में की है। इस छन्द में ओजमयी कविता को पढ़कर चित्त फड़क उठता है। 'चण्डीशतक' का एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा–

विद्राणे रुद्रवृन्द्रे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे,
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति व्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं,
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी।।[१]

भट्ट नारायण ने स्रग्धरा छन्द का बहुशः प्रयोग किया है। झञ्झावात (प्रचण्ड तूफान) को अभिव्यक्त करने वाले स्रग्धरा छन्द में दुर्योधन की वाणी सहज ही मुखरित हो गयी है। नेपथ्य की ओर कोलाहल को सुनकर भानुमती डर जाती है, तब दुर्योधन कहता है कि इसमें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह प्रचण्ड वायु चारों दिशाओं में प्रवाहित हो रही है। वायु के प्रवेग से वृक्ष उखड़ रहे हैं और पेड़ों की शाखायें इधर–उधर गिर रही हैं। उड़े हुए तिनके और धूलि से आकाश में चक्र बन गये हैं। तेज वायु के कारण झाँ–झाँ की ध्वनि हो रही है और छोटी–छोटी कंकड़ियाँ उड़कर गिर रही हैं–

'दिक्षुव्यूढाङ्घ्रिपाङ्गस्तृणजटिलचलत्पांशुदण्डोऽन्तरिक्षे,
झाङ्कारी शर्करालः पथिषु विटपिनां स्कन्धकार्थैः सधूमः।
प्रासादानां निकुञ्जेष्वभिनवजलदोद्‌गारगम्भीरधीर–
श्चण्डारम्भः समीरो वहति परिदिशं भीरु किं सम्भ्रमेण।।[२]

---

[१] चण्डीशतक, पद्य–६६

[२] वेणीसंहार – अंक–२, पद्य–१९

कालिदासीय स्रग्धरा छन्द भी विस्तृत एवं स्वाभाविक वर्णन के भाव प्रकाशित करने में सफल हुए हैं। उदाहरणार्थ अभिज्ञानशाकुन्तल का मङ्गलाचरण स्रग्धरा छन्द में है। यह शिव के आठ रूपों का विस्तृत वर्णन करता है। एक अन्य स्थल पर वीर एवं भयानक रस का सञ्चार करता हुआ स्रग्धरा छन्द डरे हुए मृग के स्वाभाविक वर्णन में थोड़ा भी न्यून नहीं होता–

> ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः,
>
> पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
>
> दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
>
> पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोक मुर्व्यां प्रयाति।।[1]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्रग्धरा छन्द प्रचण्ड रूप, चाहे वह झञ्झावात हो या स्तुति, को ही अभिव्यञ्जित करने में उपयुक्त है। क्षेमेन्द्र का कथन है कि वेग से चलते हुए पवन आदि के वर्णन में स्रग्धरा अधिक चमत्कारी होता है।[2]

सामान्यतः वीररस का सञ्चार कराने वाला छन्द 'शार्दूलविक्रीडित' संस्कृत–साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रकृति चित्रण में भी यह अपना सानी नहीं रखता, विशेष रूप से प्रकृति के भयावने रूप के प्रकाशन में तो यह अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त जहाँ लड़ाई का वर्णन करना होता है, किसी निराश आदमी में आशा का सञ्चार करना होता है, जहाँ कवि को समासगर्भा समस्त पदावली अभीष्ट हो, वहाँ कवि शार्दूलविक्रीडित छन्द का ही सहारा लेते हुए प्रतीत होते हैं। संस्कृत महाकवियों में कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण, श्रीहर्ष आदिकों ने 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द के भावानुसार भूरिशः प्रयोग किये हैं। युद्ध के वर्णन के प्रसङ्ग में वेणीसंहार

---

[1] अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क–१, पद्य–७

[2] "सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता।"

– सुवृत्ततिलक, तृतीय विन्यास/२२

नाटक में भट्टनारायण ने शार्दूलविक्रीडित छन्द का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है, जहाँ दुर्योधन का मित्र चार्वाक् कपटवेषधारी राक्षस आकर द्रौपदी से दुर्योधन और भीम के युद्ध का वर्णन करता है–

तस्मिन् कौरवभीमयोर्गुरुगदाघोरध्वनौ संयुगे,

सीरी सत्वरमागतश्चिरमभूत्तस्याग्रतः सङ्गरः।

आलम्ब्य प्रियशिष्यतां तु हलिना सञ्ज्ञा रहस्याहिता,

यामासाद्य कुरुत्तमः प्रतिकृतिं दुःशासनारौ गतः।।[1]

महाकवि भवभूति प्रकृति के भयावने रूप को प्रकाशित करने के लिए 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द का आश्रय लेते हैं। उत्तररामचरित के द्वितीय अङ्क में प्रकृति के इसी रूप का स्थल द्रष्टव्य है, जहाँ शम्बूक राम से मदोन्मत्त तथा उग्रक्रोधवाले हिंसक पशुओं से युक्त जनस्थान का वर्णन करते हुए कहता है कि कहीं तो पक्षियों के कलरव से शून्य तथा शान्त भू–भाग है, तो कहीं हिंसक जन्तुओं के प्रति डरावने शब्द हो रहे हैं, फिर अपनी इच्छा से सोये हुए बड़े तथा भयङ्कर साँपों की श्वासों से सुलगी आग वाली बिलों के बीच के भाग में थोड़े जलों वाली प्रान्त भूमि हैं, जहाँ पर प्यासे हुए गिरगिट अजगरों के पसीने का जल पी रहे हैं–

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्वस्वनाः,

स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।

सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वाल्पाम्भसो यास्वयं,

तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते।।[2]

---

[1] वेणीसंहार अङ्क–६, पद्य–१६

[2] उत्तररामचरित, अङ्क–२, पद्य–१६

महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित में प्रकृति चित्रण को अभिव्यञ्जित करने में सक्षम शार्दूलविक्रीडित छन्द अन्य स्थलों पर भी देखे जा सकते हैं। महाकवि कालिदास ने भी प्रकृति चित्रण या प्रकृति से अतिसामीप्य वाले वातावरण के वर्णन में प्रकृत छन्द का प्रयोग किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रसिद्ध चार श्लोक 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द में ही हैं, जो प्रकृति से अत्यन्त सन्निकटता से सम्बद्ध हैं। क्षेमेन्द्र का कथन है कि राजाओं की वीरता की प्रशंसा में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।[१] विशाखदत्त की मुद्राराक्षस में राजस्तुति का छन्द शार्दूलविक्रीडित ही है।

शान्त, भक्ति, श्रद्धा, देवस्तुति आदि भावों को आच्छादित किये हुए जो वृत्त महाकवियों को प्रिय लगा, वह है– शिखरिणी। इसके प्रयोग विषय के सन्दर्भ में क्षेमेन्द्र का विचार है कि किसी वस्तु की सीमा–निर्धारण में शिखरिणी छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।[२] सीमा–निर्धारण में प्रयुक्त शिखारिणी छन्द का उदाहरण उन्होंने भर्तृहरि के सुभाषित सङ्ग्रह से दिया है–

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितधियामत्र गुरवो,
विचित्रालापानां वयमपि कवीनामनुचरः।
तथाप्येवं ब्रूमो न हि परिहितात्पुण्यमपरं,
न चास्मिन् संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम्।।

प्रकृत स्थल में परोपकार में पुण्य की तथा कामिनी में रम्यता की सीमा–निर्धारण के प्रसङ्ग में शिखरिणी छन्द का प्रयोग उपपन्न है। शिखरिणी इससे कहीं अधिक शान्त एवं आराध्य देव एवं देवियों की स्तुति के भावों को अभिव्यञ्जित

---

[१] सुवृत्ततिलक विन्यास–३, पद्य–२२
[२] वहीं, उपपन्न परिच्छेककाले शिखरिणी मता, ३/२०

करने में अधिक सफल हुई है। भक्त अपने इष्टदेव की स्तुति में शिखरिणी छन्द को ही उपयुक्त मानता है। शङ्कराचार्य अपने किये हुए अपराधों के लिए क्षमा–याचना शिखरिणी छन्द में ही करते हैं, यथा–

न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो,
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाः।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं,
परं जाने मातस्त्वदनुशरणं क्लेशहरणम्।।[१]

इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने लहरी काव्यों 'आनन्द लहरी' एवं 'सौन्दर्य लहरी' की भी शिखारिणी छन्द में ही रचना की, जिसमें देवस्तुति का कार्य उच्च शिखर पर पहुँच गया। एक उदाहरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते –

भवानि स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः,
प्रजानामीशानस्त्रिपुरमथनः पञ्चभिरपि।
न षड्भिः सेनानीर्दशशतमुखैरप्यहिपति–
स्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नवसरः।।[२]

पण्डितराज जगन्नाथ को स्तुतिभाव (भक्तिभाव) को प्रकाशित करने में शिखरिणी इतनी उपयुक्त लगी कि उन्होंने लहरीपञ्चक में से 'गङ्गालहरी' एवं 'लक्ष्मीलहरी' को केवल शिखरिणी छन्द में ही रचा। अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये की गयी पवित्र गङ्गा की स्तुतिपरक लहरी 'गङ्गालहरी' से एक उदाहरण–

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्,
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।

---

[१] स्तोत्ररत्नावली, शङ्कराचार्य 'देव्यापराधक्षमापानस्तोत्र' पद्य–१
[२] ,, ,, आनन्दलहरी, पद्य–१

श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां,

सुधा–सौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु।।[1]

शान्त भावों को प्रदर्शित करने में शिखरिणी सर्वथा उपयुक्त छन्द है। महाकवि भवभूति ने शान्त भाव को प्रकाशित करने के लिये 'शिखरिणी' का कितना सुन्दर प्रयोग किया है। एक स्थल द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ का द्रष्टव्य है, जहाँ तापसी आत्रेयी को देखकर वनदेवता कहती हैं कि यह समस्त वन आपके स्वेच्छा से उपभोग के योग्य है, यहाँ पर आत्रेयी के अनुरूप शान्त भाव के साथ–साथ तापसी के प्रति वनदेवता के श्रद्धा–भाव का भी चित्रण देखा जा सकता है–

'यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः,

सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति।

तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमशनं,

फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः।।

तदनन्तर तापसी आत्रेयी कहती हैं–

प्रियप्रायावृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः

प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।

पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं,

रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते।।[2]

कितनी सुन्दर शिखरिणी है कि पढ़ते ही पाठक का मन आनन्द विभोर हो जाता है। तभी तो क्षेमेन्द्र के मत में भवभूति 'शिखरिणी' छन्द के सिद्धहस्त महाकवि

---

[1] पण्डितराजजगन्नाथ, गङ्गालहरी, पद्य–१

[2] उत्तररामचरित, अङ्क २, पद्य–१ तथा २

हैं।[1] कोमलकान्त पदावली के विधाता कविकुलगुरु कालिदास की शिखरिणी कितनी ललित पदावली से युक्त है, एक उदाहरण–

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां,

यदर्द्धा विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।

प्रकृत्या यद् वक्रं तदपि समरेखं नयनयो–

र्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्।।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिखरिणी छन्द का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है, जिसका पाठ करते समय ही शान्त भाव आदि की अभिव्यक्ति होने लगती है।

वीर रस का भाव प्रकाशित करने वाले छन्दों में एक छन्द का नाम और आता है और वह है –'पृथ्वी'। पृथ्वी छन्द के प्रयोग के विषय में क्षेमेन्द्र का कथन है कि क्रोध, धिक्कार एवं आक्षेप आदि में पृथ्वी छन्द का सन्निवेश करना चाहिये,[3] किन्तु वीररस के भाव को भी अभिव्यञ्जित करने में 'पृथ्वी' छन्द पूर्णतया सफल हुआ है। 'उत्तररामचरितम्' के छठें अङ्क के प्रारम्भ में रामपुत्र लव तथा लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु के बीच युद्ध का वर्णन करते हुए विद्याधर कहता है कि कँगनों की झनझनाहट जैसा शब्द करती घंटियों और गुञ्जित होती विशाल प्रत्यञ्चा तथा बाणों के द्वारा होते भीषण कोलाहल से युक्त धनुष को तानकर निरन्तर बाण वर्षा करते इन दो वीरों का अनूठा और भयङ्कर युद्ध अभी हो रहा है–

---

[1] भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति।।
– सुवृत्ततिलक विन्यास–३, पद्य–३३

[2] अभिज्ञान शाकुन्तल अङ्क –१, पद्य– ६

[3] साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा
– सुवृत्ततिलक विन्यास– ३, पद्य–२१

झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं धनु–

ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलम्।

वितत्य किरतोः शरानविरतं पुनः शूरयो–

र्विचित्रमभिर्वर्तते भुवनभीममायोधनम्।।[1]

यहाँ तदनुकूल पदावली का प्रयोग होने के कारण 'पृथ्वी' छन्द को पढ़ते ही पाठक या श्रोता दोनों के हृदय में वीररस का सञ्चार होने लगता है। ऐसा लगता है कि अभी भी युद्ध हो रहा है या धनुष की टङ्कार सुनायी दे रही है।

वसन्ततिलका छन्द प्रायः वीरभाव को व्यक्त करने के लिए महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त किया गया है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में वसन्ततिलका के विषय में लिखा है कि वीर एवं क्रोध दोनों भावों के एक साथ प्रकाशन में वसन्ततिलका छन्द सुशोभित हुआ करता है।[2] भट्टनारायण के वेणीसंहार नाटक से एक उदाहरण दर्शनीय है। द्रौपदी की सेविका चेटी के द्वारा उकसाये जाने पर भीम क्रोधित होकर द्रौपदी से कहते हैं–

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात–

सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।

स्त्यानापबिद्धघनशोणितशोणपाणि–

रुतंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः।।[3]

अर्थात् हे देवि ! यह भीम शीघ्र ही अपनी फड़कती भुजा से घुमायी गयी अपनी भीषण गदा के प्रहार से दुर्योधन के जङ्घों को चूर–चूर कर उससे निकलते हुए गाढ़े रक्त से रञ्जित हाथों द्वारा स्वयं तुम्हारे केश कलापों को बाँधेगा।

---

[1] उत्तररामचरित अङ्क – ६, पद्य– १

[2] वसन्ततिलका भाति सङ्करे वीररौद्रयोः विन्यास –३, पद्य–१६

[3] वेणीसंहार अङ्क–६, पद्य–१

उत्तररामचरित के चतुर्थ अङ्क में वसन्ततिलका का प्रयोग द्रष्टव्य है, जहाँ लव वटुओं से कहता है कि प्रत्यञ्चा रूपी जीभ से आवेष्टित ऊँचे उठे दोनों सिरे रूपी दाढों से युक्त घोरघनों के घर्घर जैसा घोष करता यह धनुष ग्रास निकालने में तत्पर हंसते यमराज के मुख की जँभाई की विडम्बना करता विकटमध्य–भाग वाला हो जाये–

'ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र–

मुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।

ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र,

जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम्।।[1]

यहाँ वीर रस का सञ्चार करने में वसन्ततिलका छन्द प्रयुक्त है, क्योंकि छन्द का पाठ करते समय ही पाठक के अन्दर वीररस प्रवाहित होने लगता है। कहीं–कहीं पर वसन्ततिलका सामान्य भाव को व्यक्त करने में सक्षम दिखायी पड़ता है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के पञ्चम सर्ग के अन्तिम दस–पन्द्रह श्लोकों में वसन्ततिलका छन्द का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा–

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं,

कन्याललामकमनीयमजस्य लिप्सोः।

भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ,

निद्राचिरेण नयनाभिमुखी बभूव।।[2]

यहाँ वसन्ततिलका रमणीय एवं मर्मस्पर्शी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वसन्ततिलका विशेष रूप से वीर एवं क्रोध भाव को अभिव्यक्त करने वाला छन्द है, किन्तु

---

[1] उत्तररामचरित, अङ्क–४, पद्य–२९

[2] रघुवंश सर्ग–५, पद्य–६४

अन्य सामान्य भावों को अभिव्यक्त करने में भी सफल सिद्ध हुआ है। भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदिकों ने भी उपर्युक्त भावों को प्रकट करने के लिए वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग किया है।

भावों को अभिव्यञ्जित करने में कतिपय छोटे छन्द भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं एक छन्द है, जिसका नाम है– प्रमाणिका, जो उत्साह भाव की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल है। इस छन्द से सेना के रणप्रयाण (March past) अर्थात् युद्ध के पूर्व युद्ध करने के लिए उद्यत सैनिकों मे जो उत्साह दिखायी पड़ता है, उसका अभिव्यञ्जन इस आठ अक्षर वाले छोटे से छन्द प्रमाणिका में पूर्ण रूप से होता है। जैसे– वीरों के उद्‌बोधन से भरा डॉ० हरिदत्त शर्मा का यह गीत दर्शनीय है–

चलन्तु वीरसैनिकाः, प्रयान्तु वीरसैनिकाः।
सगौरवं सडिण्डिमं, व्रजन्तु वीरसैनिकाः।।
करे सुशस्त्रमण्डनं, स्वरे च सिंहगर्जनम्।
जने जने व्रतं दृढं, स्वमातृभूमिरक्षणम्।
स्वदेश–पुण्यगौरवं, स्मरन्तु वीरसैनिकाः।।[1]

प्रमाणिका छन्द का जहाँ सबसे सुन्दर प्रयोग दिखायी पड़ता है, वह है–रावणकृत 'शिवताण्डवस्तोत्र' इसमें 'ताण्डव' (प्रचण्ड नाच) को आधार मानकर शिव की स्तुति की गयी है। दूसरे शब्दों में शिव के नृत्य 'ताण्डव' अर्थात् भयावने रूप का वर्णन किया गया है। इसी भयावने रूप के अनुसार अक्षरों का सन्निवेश भी प्रमाणिका छन्द में किया गया है। यह शिव के नृत्य 'ताण्डव' की भयङ्करता का परिपोषक हुआ है। एक–दो पद्य उदाहरण के रूप में दिये जा रहे हैं–

जटाटवीगलज्जल–प्रवाहपावितस्थले,
गलेऽवलम्ब्य लम्बितां – भुजङ्गतुङ्गमालिकाम्।
डमड्डमड्डमड्डमन् – निनादवड्डमर्पयं,

[1] गीत कन्दलिका– प्रयाणगीतम्, गीत–४

चकार चण्डताण्डवं – तनोतु नः शिवः शिवम्।।

जटाकटाहसम्भ्रम – भ्रमन्निलिम्पनिर्झरी,

विलोलवीचिवल्लरी – विराजमानमूर्द्धनि।

धगद्धगद्धगज्ज्वलल् – ललाटपट्टपावके,

किशोरचन्द्रशेखरे – रतिः प्रतिक्षणं मम।।[1]

छन्द तथा अलङ्कार में अन्तःसम्बन्ध :–

जिस प्रकार छन्द–विशेष भाव–विशेष को अभिव्यञ्जित कर कविकर्म में चमत्कार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अलङ्कार–विशेष की छन्द–विशेष में योजना की जाती है, तो एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। साथ ही छन्द सङ्गीतमयी प्रस्तुति में भी खरे सिद्ध होते हैं। विविध अलङ्कारों में अनुप्रास और यमक दो ही अलङ्कार ऐसे हैं जिनकी छन्द के साथ योजना करने पर अलङ्कार एवं छन्द दोनों की शोभा में चमत्कारिक रूप से वृद्धि हो जाती है। भावानुसारी अक्षरों का प्रयोग ही अनुप्रास है। आचार्य मम्मट ने 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' की व्याख्या करते हुए वृत्ति में लिखा है– ''रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः।''[2] अर्थात् रसभावादि के अनुकूल वर्णों की योजना करना ही अनुप्रास है। चूँकि भावों का छन्दों से घनिष्ठ सम्बन्ध है और भाव तदनुकूल वर्णों के द्वारा ही अभिव्यञ्जित होते हैं, इसलिए परम्परया छन्द और अनुप्रास का परस्पर सम्बन्ध है, यथा– भट्टनारायण के वेणीसंहार नाटक में भीमसेन क्रोधित होकर कहते हैं–

मन्थायास्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः,

कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः।

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिघनोत्पातनिर्घातवातः,

---

[1] स्तोत्ररत्नावली– शिवताण्डवस्तोत्र पद्य–१ तथा २

[2] काव्यप्रकाश की वृत्ति – ९/७९

केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्।।[1]

वीरभावाभिव्यञ्जक स्रग्धरा वृत्त में इस प्रकार के वर्णों की योजना हुई है, जो सुनने में ही कठोर हैं। अतः छन्द के कान में पड़ते ही ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थल वीर रस का है।

इसी प्रकार कोमल भाव को प्रकाशित करने वाले छन्दों में कोमल वर्णों का प्रयोग होता है, तभी तदनुकूल भाव प्रस्फुरित हुआ करते हैं। जैसे–गीतगोविन्द के मात्रिक छन्दों से निष्पन्न गीतों में यह स्वर माधुरी श्रवणीय है–

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे,
मधुकरनिकटकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते,
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि ! विरहिजनस्य दुरन्ते।[2]

छन्द एवं अलङ्कार के अन्तःसम्बन्ध का सुमञ्जुल सम्न्वय यमक अलङ्कार और द्रुतविलम्बित छन्द में देखने को मिलता है, जहाँ प्रकृति के सौन्दर्य (ऋतुओं के अनुसार) का चित्रण हुआ करता है। जहाँ पर कविगण अपने पद्यों में प्रकृति के सौन्दर्य के वर्णन में यमक अलङ्कार की छटा दिखलाना चाहते हैं, वहाँ इसी छन्द का प्रायः प्रयोग किया करते हैं, क्योंकि वे यमक अलङ्कार के माध्यम से इस छन्द में अपने प्रेममय सौन्दर्य के चित्रण को उच्चतम शिखर पर ले जाने में सफल होते हुए रस के अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। साथ ही इस छन्द में यमक अलङ्कार सुगम रीति से बैठाया जा सकता है अर्थात् इन दोनों के मिश्रण से रचना सरल हो जाती है। द्रुतविलम्बित छन्द के साथ यमक अलङ्कार का समन्वय सबसे

---

[1] वेणीसंहार अङ्क–१, पद्य–२२

[2] गीतगोविन्द सर्ग–१, गीत–३

पहले हम महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में देखते हैं। महाकवि ने रघुवंश के नवें सर्ग में यमक और द्रुतविलम्बित का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। उदाहरण–

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवा–
स्तदनु षट्कोकिल कूजितम्।
इति यथा क्रममाविरभून्मधु–
र्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्।।
श्रुति सुख–भ्रमरस्वनगीतयः,
कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवन्तान्तलताः पवनाहतैः,
किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः।।[1]

उपर्युक्त दोनों पद्यों में वसन्त ऋतु का सुन्दर चित्रण है। यद्यपि क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ सुवृत्ततिलक में द्रुतविलम्बित छन्द के प्रयोग विषयों की ओर सङ्केत नहीं किया है, किन्तु संस्कृत महाकवियों की प्रयोग परम्परा को देखें तो षडऋतु वर्णन, विशेष रूप से वसन्त ऋतु का वर्णन इसी छन्द में और यमक के साथ अत्यन्त समीचीन होता है। अतः हम कह सकते हैं कि यमक के साथ द्रुतविलम्बित छन्द ऋतुकालिक सौन्दर्य के भावों को अभिव्यञ्जित करने में सफल सिद्ध हुआ है। कालिदास के बाद अनेक महाकवियों माघ, भारवि, भट्टि, रत्नाकर आदिकों ने इसी तरह के प्रयोग किये हैं। यमक के साथ इस छन्द के प्रयोग का सूत्रपात महाकवि कालिदास ने किया, उसका चरमोत्कर्ष महाकवि माघ के शिशुपालवध में पाया जाता है। वसन्त ऋतु के वर्णन में ही निम्न स्थल दर्शनीय हैं–

---

[1] रघुवंश सग –९ पद्य–२६ तथा ३५

'नवपलाशपलाशवनं पुरः

स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।

मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्–

स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।

मधुरया मधुबोधितमाधवी,

मधु–समृद्धिसमेधितमेधया।

मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मद–

ध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे।।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि कालिदास के प्रयोग में सामान्यतः चतुर्थ पाद में यमक का प्रयोग है, किन्तु यह विस्तृत रूप के साथ माघ के प्रयोग में चारों चरणों में पाया जाता है। अत एव स्पष्ट है कि प्रकृति प्रेमियों में यह प्रयोग रुचिकर सिद्ध हुआ। यह प्रयोग अर्थात् यमक और द्रुतविलम्बित छन्द की युगपत् प्रवृत्ति माघ से आगे भी पायी जाती है। भट्टिकाव्य एवं हरविजय महाकाव्य में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। आधुनिक संस्कृत–कवि पण्डित रामावतार शर्मा (जिनके विषय में 'आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्य एवं छन्द नामक शीर्षक में चर्चा की जायेगी) ने वसन्त ऋतु के वर्णन में इसी विधा को अपनाया है। वस्तुतः संस्कृत–कविता में यह अनूठा प्रयोग है। इसी प्रवृत्ति को माघ से आगे बढ़ाते हुए महाकवि भट्टि ने अपने महाकाव्य भट्टिकाव्य (रावणवध) में हनुमान् के द्वारा लङ्का जला दी जाने पर लङ्का की दुरवस्था का चित्रण यमक के साथ 'तोटक' छन्द में किया है। वस्तुतः तोटक छन्द भी यमक के साथ द्रुतविलम्बित की तरह ताल एवं लय की शीघ्रता के कारण

[1] शिशुपालवध सर्ग–६ पद्य २ तथा २०

साङ्गीतिक आनन्द देने में खरा उतरता है। एक दो उदाहरण भट्टिकाव्य से दिये जा रहे हैं–

सरसां सरसां परिमुच्य तनुं पततां पततां ककुभो बहुशः।
सकलैः सकलैः परितः करुणैरुदितैरुदितैरिव खं निचितम्।।
न गजा नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम्।
प्रमदा प्रमदाऽमहता महता मरणं मरणं समयात् समयात्।।[1]

छन्द एंव अलङ्कार की योजना के अनुशीलन के पश्चात् हम देखते हैं कि यमक का द्रुतविलम्बित और तोटक छन्द से संयोग होने पर एक अद्‌भुत साङ्गीतिक वातावरण तैयार होता है, जो संस्कृत–कविता की एक अनूठी देन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छन्दो–विधान काव्य–शिल्प का आवश्यक उपकरण है। काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध मानव अन्तस् की भाव तरङ्ग से है। मनोवेग काव्य में प्रयुक्त शब्दों की स्वर–लहरी से उद्वेलित हुआ करते हैं। यह स्वरलहरी प्रसङ्गानुसारिणी होती है और यही लय ही छन्द का आत्मतत्त्व है। अतः काव्य के व्यङ्ग्य रस और छन्द का औचित्यपूर्ण सम्बन्ध कुशल कवि की काव्यकला का परिचायक है। इस विषय में कालिदास राय का कथन है– "छन्दः शिल्पी रूपे वैचित्य सृष्टि करने नर्द। ताहार कवि मनेर आवैगेर सुरइ छनदे रचना वैचित्य करियारवे।[2] वस्तुतः कवि मधुर, ललित एवं परुष भाव की व्यञ्जना भिन्न–भिन्न वर्णों के संयोजन से करता है। कवि प्रयास पूर्वक नव–नव छन्दों का निर्माण नहीं करता, अपितु भाव ही स्वतः उससे छन्द की सृष्टि करवाते हैं।

---

[1] भट्टिकाव्य, सर्ग–१० पद्य – ४ तथा ९

[2] साहित्य–प्रसङ्ग पृष्ठ–१६२

वस्तुतः छन्द एवं भाव के अन्तःसम्बन्ध का निर्धारण महाकवियों या संस्कृत–कवियों के प्रयोग बाहुल्य के आधार पर ही होता है। एतद्विषयक उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि छन्दों का प्रयोग यदि भावानुसारी होता है, तभी छन्द अपने सौन्दर्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। भावानुसारी छन्दों के प्रयोग के अपवाद भी देखने को मिलते हैं। अन्य शब्दों में, कहीं–कहीं पर अन्य भावों के सम्प्रेषण में भी छन्दों का प्रयोग समुलब्ध होता है। यथा– शृङ्गार–रस–प्रधान रत्नावली नाटिका में सर्वाधिक जो छन्द प्रयुक्त हुआ है, वह है– शार्दूलविक्रीडित। एक–दो स्थलों को छोड़कर सर्वत्र शार्दूलविक्रीडित छन्द शृङ्गार के प्रसङ्ग में ही प्रयुक्त हुआ है तथा ललितपदावली से युक्त भी है। उन स्थलों में एक स्थल दर्शनीय है, जहाँ कोमल पदावली के साथ–साथ शृङ्गार–रस की छटा दिखायी दे रही है। राजा विदूषक से कहता है कि निरन्तर वायु के आघात से अपना आयास प्रकट करती हुई, मदन नामक वृक्ष से युक्त इस उद्यान लता को अत्यधिक उत्कण्ठा वाली, जँभाई लेती हुई निरन्तर गहरे श्वासों से अपनी खिन्नता प्रकट करने वाली सुन्दरी के समान देखता हुआ मैं आज निश्चय ही महारानी के मुख को क्रोध से लाल कान्ति वाला कर दूँगा–

"उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररूचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा–
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।।"[1]

इसी प्रकार वसन्ततिलका छन्द महाकवियों के द्वारा प्रायः वीर एवं रौद्र भाव को अभिव्यञ्जित करने में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु अपवाद के रूप में शृङ्गार के

[1] श्री हर्षदेव, रत्नावली–नाटिका, अङ्क–२, पद्य–४

प्रसङ्ग में भी इस छन्द का प्रयोग मिलता है। श्रीमद्भागवत पुराण का 'वेणुगीत' वसन्ततिलका छन्द में ही है। जहाँ गोपियाँ वंशीध्वनि को सुनकर उसकी मधुरता का वर्णन करने में गोपियाँ इतना तन्मय हो गयी, जैसे श्रीकृष्ण को पाकर आलिङ्गन करने लगी हों। इस विषय को लेकर ही गोपियाँ परस्पर एक–दूसरे से कहती हैं–

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः,
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेश–सुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्।।
चूतप्रवालवर्हस्तबकोत्पलाब्ज
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां,
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ।।[1]

वस्तुतः 'वसन्ततिलका' छन्द का शाब्दिक अर्थ है– 'वसन्त ऋतु में शोभा को धारण करने वाली या वसन्त ऋतु का अलङ्कार। चूँकि वसन्त ऋतु में श्रृङ्गारिक विलासों की प्रधानता पायी जाती है, अत एव नामों की अर्थवत्ता की दृष्टि से वियोग का भाव वसन्ततिलका छन्द में अधिक शोभा को प्राप्त होता है तथा 'वेणुगीत' का छन्द वसन्ततिलका उपयुक्त है। किन्तु इस भाव के प्रकाशनार्थ प्रकृत छन्द का प्रयोग अपवाद स्वरूप ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य छन्दों का प्रयोग भी अपवादों से मुक्त नहीं है।

---

[1] स्कन्ध–१०, अध्याय–२१, पद्य–७ तथा ८

निष्कर्ष :–

छन्द एवं भावों के अन्तःसम्बन्ध के विषय में उपर्युक्त विवेचनों से हम देखते हैं कि छन्द में भाव को प्रेषित करने में अद्भुत शक्ति रहती है, किन्तु यह प्रश्न उठता है कि छन्द विशेष भाव विशेष को ही अभिव्यञ्जित करने में क्यों उपयुक्त है? या महाकवियों ने एक भाव विशेष को प्रकाशित करने के लिए छन्द विशेष को ही क्यों चुना ? इसका उत्तर देना बड़ा ही दुष्कर प्रतीत होता है, क्योंकि यह कवि की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अमुक भाव का प्रकाशन अमुक छन्द के माध्यम से करे। इसका उत्तर कुछ इस प्रकार से दिया जा सकता है कि छन्द विशेष का स्वरूप एवं आकार ही इस विषय में कारण हो सकता है। उदाहरणार्थ यदि प्रकृति के भयावने रूप का चित्रण विस्तार के साथ करना हो तो स्पष्ट है कि यह छोटे छन्दों के द्वारा नहीं, अपितु बड़े छन्दों के द्वारा ही सम्भव है और उस छन्द में तदनुकूल वर्णों के संयोग से ही । अतः इसके लिए बड़े आकार वाला शार्दूल–विक्रीडित ही उपयुक्त है। शिखरिणी भक्ति भाव को प्रकाशित करने वाला छन्द इस लिये माना गया क्योंकि यह भक्ति की विस्तृत विषयवस्तु को समाहित कर सकता है तथा साथ ही उसकी लय इतनी मधुर है कि उस लय के माध्यम से अपने आराध्य देव को प्रसन्न कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि निश्चित रूप से भाव विशेष का प्रकाशन छन्द विशेष के आकार एवं स्वरूप पर निर्भर करता है।

षष्ठ अध्याय

संस्कृत-छन्द एवं अन्त्यानुप्रास

षष्ठ अध्याय

संस्कृत–छन्द एवं अन्त्यानुप्रास

काव्यशास्त्र एवं काव्य में अन्त्यानुप्रास :–

संस्कृत–छन्दोविधान के प्रायोगिक विश्लेषण के सन्दर्भ में अन्त्यानुप्रास का विवेचन अपेक्षित है, जो काव्यशास्त्र में सबसे पहले आचार्य विश्वनाथ कविराज के द्वारा अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ साहित्यदर्पण में विवेचित हुआ। अनुप्रास अलङ्कार के भेद–विवेचन के सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यञ्जन की आवृत्ति हो, तो वह अन्त्यानुप्रास कहलाता है। इसका प्रयोग पद अथवा पाद आदि के अन्त में ही होता है, इसी कारण इसे अन्त्यानुप्रास कहते हैं–

'व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।।'[1]

यहाँ 'यथावस्थ' कहने का तात्पर्य यह है कि यथासम्भव अनुस्वार, विसर्ग तथा स्वर आदि पूर्ववत् ही रहने चाहिये। इस प्रकार हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पदान्त एवं पादान्त में एक नियत क्रम से विसर्ग, स्वर एवं व्यञ्जनमूलक ध्वनि समूह के साम्य–संयोग या आवृत्ति को अन्त्यानुप्रास कहते हैं।

आचार्य मम्मट ने भी वर्णानुप्रास के अन्तर्गत वर्णों के साम्य की चर्चा की है, किन्तु वहाँ केवल व्यञ्जन की समानता कही गयी है, साथ ही पद्य एवं पाद के अन्त में नहीं, प्रत्युय पद्य के किसी भी भाग में हो सकता है, अतः वह अन्त्यानुप्रास नहीं हो सकता।

---

[1] साहित्यदर्पण – परिच्छेद–१०, कारिका–७

संस्कृत–साहित्य में अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द–रचना अन्य साहित्य की अपेक्षा कम प्राप्त होती है। वस्तुतः संस्कृत में यह प्रयोग बहुत अधिक नहीं प्रचलित था। अंग्रेजी काव्य में अन्त्यानुप्रासात्मक रचना संस्कृत की अपेक्षा अधिक उपलब्ध होती है। अंग्रेजी छन्दों में संस्कृत के सम और अर्द्धसम छन्दों के समान वर्णों की एक समानता पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता और जब भी कभी ऐसे छन्द प्रयोग में आते हैं, जिनके पादों की वर्ण संख्या भी लगभग एक समान होती है और अन्त्यानुप्रास भी, तो इस स्थिति को 'Perfect Rhyme' कहा जाता है। यथा–

I will tune thy elegies to trumpt sounds,
And write thy epitaph in blood and wounds.

हिन्दी साहित्य की रचनाओं में तो अन्त्यानुप्रास का प्रयोग बहुशः देखने को मिलता है। यही कारण है कि वहाँ इसे एक अनिवार्य अङ्ग के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। भक्तिकाल एवं रीतिकाल की लगभग सभी रचनायें अन्त्यानुप्रासमय ही दिखलायी पड़ती है। तुलसीदास की लगभग सभी कृतियाँ, उनमें भी रामचरितमानस पूरी की पूरी अन्त्यानुप्रासात्मक रचना है, या यह कहें कि हिन्दी का 'चौपाई छन्द' अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द है। यही प्रवृत्ति छायावादी कवियों की रचनाओं में बहुशः देखने को मिलती है।

संस्कृत–काव्यों में अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द हम सबसे पहले वाल्मीकीय रामायण में पाते हैं–

मत्ता गजेन्द्राः मुदिता गवेन्द्राः,
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः।
रम्या नगेन्द्राः निभृता नरेन्द्राः,
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः।।[1]

---

[1] किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग–२८, पद्य–४३

सुन्दरकाण्ड का एक सर्ग पूरा का पूरा अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द रचना में उपनिबद्ध है, यथा–

''ततः स मध्यं गतमंशुमन्तं,

ज्योत्स्ना–वितानं मुहुरुद्वमन्तम्।

ददर्श धीमान् भुवि भानुमन्तं,

गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमन्तम्।।''[1]

''लोकस्य पापानि विनाशयन्तं,

महोदधिं चापि समेधयन्तम्।

भूतानि सर्वाणि विराजयन्तं,

ददर्श शीतांशुमथाभियन्तम्।।''[2]

एक उदाहरण और वहीं से –

''हंसो यथा राजत–पञ्जरस्थः,

सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।

वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थः,

चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः।।[3]

उपर्युक्त सभी अन्त्यानुप्रासात्मक प्रयोग इन्द्रवज्रादि छन्दों में हैं। ये प्रयोग काव्य में एक अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। छन्द के पाठ को सुनने वाले का मन काव्य की ओर सहज ही आकर्षित हो जाता है। ऐसे प्रयोग गीत्यात्मकता एवं सङ्गीतमयी प्रस्तुति की कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। यदि संस्कृत–काव्यों का अनुशीलन करें, तो रामायण के बाद स्तोत्र–काव्यों में इस शैली को बहुशः अपनाया

---

[1] वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड सर्ग–५, पद्य–१

[2] वहीं " " " पद्य–२

[3] वहीं " " " पद्य–४

गया है, किन्तु इसके अतिरिक्त अनेक महाकवियों की कृतियों में भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग देख सकते हैं, यथा–आचार्य भरत के मालती वृत्त के उदाहरण में अन्त्यानुप्रास का कितना सुन्दर प्रयोग मिलता है–

शोभते बद्धया षट्पदाविद्धया।

मालती मालया मानिनी लीलया।।[1]

परवर्ती महाकवियों के काव्य में भी कहीं–कहीं पर इसका किञ्चित प्रयोग देखा जा सकता है, यथा–

'अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया। [2]

पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया।।

'नैषधीयचरितम्' जैसे पाण्डित्यपूर्ण काव्य में भी यह दिखायी देता है, यथा–

निपीय तत्कीर्तिकथामथानया,

चिरायतस्थे विमनायमानया।[3]

दूसरा प्रयोग–

'रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा

शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा।[4]

एक और उदाहरण वहीं से–

'धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः,

समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।[5]

---

[1] नाटयशास्त्र अध्याय– १६, पद्य–

[2] शिशुपालवध सर्ग–१, पद्य–९

[3] नैषधीयचरित सर्ग–१, प–३७

[4] वहीं सर्ग–१, प–१११

[5] वहीं सर्ग–१, प–१३०

भवभूति के 'उत्तररामचरित' में भी अन्त्यानुप्रास का एक प्रयोग दर्शनीय है—

"म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि,

सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।

एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि !

कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि।।[1]

इनमें यद्यपि गीत्यात्मकता का अभाव है, फिर भी अन्त्यानुप्रास का प्रयोग द्रष्टव्य है।

अन्त्यानुप्रास के विषय में यह ध्यातव्य है कि इसका प्राण तत्त्व है— सङ्गीतमयी प्रस्तुति के साथ प्रभावपूर्णता। संस्कृत—भक्तिकाव्यों में या गीतों में यह शैली बृहद्रूप में अपनायी गयी। इसका कारण यह था कि सङ्गीतमयी प्रस्तुति के साथ—साथ अपने आराध्य देव को प्रभावित करना और यह क्षमता केवल गीतिकाव्यों में देखने को मिलती है। स्तोत्रकाव्यों में अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द के प्रभूत उदाहरण देखे जा सकते हैं। उनमें भी कृष्णसम्बन्धी स्तोत्र में तो यह प्रयोग बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है, यथा शङ्कराचार्य द्वारा विरचित 'श्रीकृष्णाष्टकम्' से—

"भजे व्रजैकमण्डनं समस्तपापखण्डनं,

स्वभक्तचित्तरञ्जनं सदैव नन्दनन्दनम्।

सुपिच्छगुच्छमस्तकं सुनादवेणुहस्तकं,

अनङ्गरङ्गसागरं नमामि कृष्णनागरम्।[2]

यह उल्लेख्य है कि भक्तिगीतों में इस प्रकार की अन्त्यानुप्रासात्मक छन्दो—योजना भक्त इसलिये करता है, ताकि वह अपने आराध्य के समक्ष लय एवं ताल के साथ गीत को गाकर उसे प्रसन्न कर सके, साथ ही स्वयं को भी सन्तुष्टि

---

[1] अङ्क प्रथम पद्य—३६

[2] स्तोत्ररत्नावली

मिले। शङ्कराचार्य द्वारा विरचित चर्पटपञ्जरिका का प्रसिद्ध गीत 'भज गोविन्दम्' भक्त की आराध्य के समक्ष की गयी स्तुत्यात्मक प्रस्तुति एक अच्छा चित्र प्रस्तुत करती है–

"दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः।।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।।
अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।।[1]

भावानाप्रधान अन्त्यानुप्रासात्मक गीत का एक और उदाहरण–

"एहि मुरारे कुञ्जविहारे, एहि प्रणतजनबन्धो,
हे माधव मधुमथन वरेण्य केशव करुणासिन्धो।
रासनिकुञ्जे गुञ्जति नियतं भ्रमरशतं किल कान्त,
त्वामिह याचे दर्शनदानं हे मधुसूदन शान्त।।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्तोत्रकाव्यों में अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द अनेकशः मिलते हैं, या दूसरे शब्दों में यह कहें कि स्तोत्रकाव्य का छन्द अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द ही है। कहीं–कहीं पर एक ही पद बार–बार आकर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है।

---

[1] स्तोत्ररत्नावली, चर्पटपञ्जरिका, गीत–१ तथा २

[2] वही, गोपिकाविरहगीतम्, गीत–१

स्तोत्रकाव्यों में जिस अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द के प्रयोग की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई थी, वह अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई 'गीतगोविन्दम्' में, जो जयदेव द्वारा विरचित है। यह पूर्णतः छान्दस सङ्गीत में उपनिबद्ध है। यह काव्य अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द के प्रयोग का चूडान्त निदर्शन है। इसके सब गीत भक्तिपूर्ण हैं, जिनमें शास्त्रीय सङ्गीतमयी प्रस्तुति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। इसके गीतों में कोमल वर्णों का प्रयोग बहुशः हुआ है। अन्त्यानुप्रासात्मक गीतों को सुनते ही श्रोता बिना अर्थ समझे ही आनन्द से भर उठता है, यथा–

"ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।।[१]

एक अत्यन्त सुन्दर गेय अन्त्यानुप्रासात्मक छन्द का उदाहरण–

"चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली।।
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे।
विलासिनि विलसति केलिपरे।।[२]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'गीतगोविन्द' में सङ्गीतमयी प्रस्तुति से साथ अन्त्यानुप्रासात्मक छन्दोविधान अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। इनके अतिरिक्त सुवृत्ततिलक में अन्त्यानुप्रासात्मक रचनायें देखने को मिलती है, यथा– स्वागता छन्द में अन्त्यानुप्रासात्मक का प्रयोग–

---

[१] गीतगोविन्दम्, सर्ग–१, गीत–३
[२] वही, सर्ग–१, गीत–४

व्यालवन्ति तरला जलधाराः पान्थसङ्गमधृतेः परिहाराः।

प्रान्तरत्ननिभविद्युद्दाराः प्रावृषः पृथुपयोधरहाराः।।[1]

वहीं तोटक छन्द में निबद्ध यह पद्य है–

मदघूर्णितलोचनषड्चरणं,

घनरागमनङ्गकराभरणम्।

कमलद्युतिमुग्धवधूवदनं,

सुकृती पिबतीह सुधासदनम्।।[2]

प्रकृत प्रयोग में कितना सुन्दर संयोजन हुआ है– तोटक और अन्त्यानुप्रास का। इसे लय, ताल के साथ गाये जाने पर श्रोता का चित्त नाच उठता है।

प्रहरणकलिता छन्द में –

सुरमुनिमनुजरूपचितचरणां

रिपुभयचकितत्रिभुवन शरणाम्।

प्रणमत महिषासुवधकुपितां,

प्रहरणकलितां पशुपतिदयिताम्।।[3]

यह पद्य 'देवी' 'दुर्गा' की स्तुति से सम्बद्ध किसी स्तोत्र काव्य का है।

'वितान' छन्द में –

कङ्कालमालभारिणं

कन्दर्पदर्पहारिणम्।

संसारबन्धमोचनं

वन्दामहे त्रिलोचनम्।।

---

[1] सुवृत्ततिलक विन्यास–२

[2] वही

[3] वृत्तरत्नाकर

त्रिलोचन भगवान् शिव की वन्दना होने के कारण यह छन्द भी किसी स्तोत्रकाव्य का ही जान पड़ता है।

छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में भी अन्त्यानुप्रासात्मक पद्य प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। लोक में प्रचलित छन्दों का संस्कृतीकरण करते हुये श्रीकृष्ण भट्ट ने 'झुल्लन' छन्द के उदाहरण में अन्त्यानुप्रासात्मक पद्य दिया है–

'शेषपतगेशविबुधेशभुवनेशभूतेशसविशेषसुनिदेशधरणी,
कन्दलितसुन्दरानन्दमकरन्दरसमज्जनमिलिन्दभवसिन्धुतरणी।
ज्ञानमण्डनपरा कर्मखण्डनधरा शमनदण्डनपराभूतिहरणी,
नित्यमिह वक्ति मुनिवृन्दमनुरक्तिमज्जयति हरिभक्ति रासक्तिकरणी।।'[1]

'खञ्जविशाल' छन्द में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग दर्शनीय है–

'वृन्दारण्यचारिणी कदम्बपुष्पभारिणी मिलिन्दवृन्दहारिणी सुगन्धिपुरगामिनी,
भक्तलोकपालिनी दयालुतानिभालिनी रमेशसंगलालिनी महाघशैलदामिनी।
पारिजातपुष्पतारकौघमण्डिता रमेशचन्द्रसङ्गिनीव कापि नीलयामिनी,
भूरिभङ्गरङ्गिणी तरङ्गिणीषु निस्तुला करोतु मे शुभानि सा कलिन्दजेतिनामिनी।।'[2]

दुःखभञ्जन कवि के द्वारा प्रदत्त 'आन्दोलिता' छन्द का लक्षण जो अपने आप में उदाहरण भी है, में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग द्रष्टव्य है–

'यत्र दशदशकला अनुविरतिरुज्ज्वला तदनुमुनिमितकला यर्हि जाता।
सप्तगुणसम्मिताः पादमात्राः स्थिता ललितपदराजिता याऽवदाता।।
रसिकजनमानिता सपदि मुदमाहिता वितरति विगाहिता लोकजाता।
भुजगपतिनोदिता कविकुलविनोदिता छन्द आन्दोलिता यातपाता।।'[3]

---

[1] वृत्तमुक्तावली, २/६१
[2] वही ३/२६३
[3] वाग्वल्लभ, मात्रासम–६

अन्त्यानुप्रास :– प्रयोग की प्रवृत्ति–

अन्त्यानुप्रास के प्रयोग की प्रवृत्ति के विषय में साहित्यदर्पणकार का कथन है कि यह पद के अन्त में या पाद के अन्त में प्रयुक्त होता है। अतः इसके प्रयोग की प्रवृत्ति पादान्त में, पदान्त में तथा पादान्त–पदान्त आदि रूपों में देखने को मिलती है। उदाहरण के माध्यम से हम इस प्रवृत्ति को स्पष्ट कर सकते हैं, यथा–

पादान्त प्रयोग की प्रवृत्ति–

संस्कृत–काव्यों में पादान्तात्मक प्रयोग की प्रवृत्ति बहुशः समुपलब्ध होती है–

सोऽयं मुनीन्द्रजनमानसतापहारी,

सोऽयं मदव्रजवधूवसनापहारी।

सोऽयं तृतीयभुवनेश्वरदर्पहारी,

सोऽयं मदीयहृदयाम्बुरुहापहारी।।[1]

पादान्त का एक उदाहरण और–

केशः काशस्तबकविकासः, कायाप्रकटितकरभविलासः।[2]

चक्षुर्दग्धविराटककल्पं, त्यजति न चेतः काममनल्पम्।।

पदान्तात्मक प्रवृत्ति–

सुन्दरगोपालं उरवनमालं नयनविशालं दुःखहरम्।

वृन्दावनचन्द्रमानन्दकन्दं परमानन्दं धरणिधरम्।।

वल्लभघनश्यामं पूर्णकामं अत्यभिरामं प्रीतिकरम्।

भज नन्दकुमारं सर्वसुखसारं तत्त्वविचारं ब्रह्मपरम्।।[3]

---

[1] श्रीकृष्णकर्णामृतम्, शतक–१, श्लोक–८१
(Sanskrit Poetry- from Vidyakara's treasury-by Denial H.H. Ingals, Harward University - Cambrige Massachusets, 1968

[2] साहित्यदर्पण (१०/६ की वृत्ति)

[3] स्तोत्ररत्नावली, नन्दकुमाराष्टक

उपर्युक्त उदाहरण में प्रत्येक पद के अन्त में स्वर, व्यञ्जन एवं अनुस्वार का साम्य है, अतः यहाँ पदान्त अन्त्यानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

पदान्त–पादान्तात्मक प्रवृत्ति–

प्रथम समागमलज्जितया, पटुचाटुशतैरनुकूलम्।
मृदुमधुरस्मितभाषितया, शिथिलीकृतजघनदुकूलम्।।[1]

प्रकृत प्रयोग पदान्त होने के साथ पादान्त भी है, अतः यहाँ अन्त्यानुप्रास की पदान्त–पादान्तात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत–छन्दों में अन्त्यानुप्रास की त्रिविध प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती है और यह 'अन्त्यानुप्रास' नाम की दृष्टि से भी सङ्गत है, क्योंकि छन्द में 'अन्त' की दो ही स्थितियाँ हैं– एक पद का अन्त और दूसरा पाद का अन्त, किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं–कहीं एक ही शब्द बार–बार प्रयुक्त होकर लयात्मक सुमधुर गीत की मधुरिमा को बनाये रखता है। ध्यातव्य है कि इस स्थल पर यमक अलङ्कार का प्रसङ्ग नहीं प्रसक्त होता। वल्लभाचार्य द्वारा विरचित 'मधुराष्टक' इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है, यथा–

"अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।[2]
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिराधिपतेरखिलं मधुरम्।।

यहाँ द्रष्टव्य है कि 'मधुर' शब्द बार–बार प्रयुक्त होता हुआ गीत की मधुरिमा में चार चाँद लगा देता है। उल्लेख्य है कि यहाँ पर अन्त्यानुप्रास की स्थिति लयबद्धता (जो कि अन्त्यानुप्रास का प्राण है) के कारण मानी जा सकती है। ऐसे प्रयोग रामायण, महाभारत आदि मे भी अनेकशः प्रयुक्त हुये हैं।

---

[1] गीतगोविन्दम्, सर्ग–२, गीत–६
[2] स्तोत्ररत्नावली, 'मधुराष्टकम्'

निष्कर्ष :–

उपुर्यक्त विवरणों एवं उद्धरणों से हम यह सहज रूप से कह सकते हैं कि अन्त्यानुप्रासात्मक प्रयोग छन्दोबद्ध रचना के सौन्दर्याधायक एवं हृदयावर्जक तत्त्व सिद्ध होते हैं। अलङ्कार वैसे भी काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं, लेकिन सङ्गीतमयी प्रस्तुति की दृष्टि से अन्त्यानुप्रास अन्य अलङ्कारों से बढ़कर है।

प्रश्न उठता है कि 'अन्त्यानुप्रासात्मक प्रयोग' संस्कृत–छन्द को सङ्गीत की डोरी में बाँध देते हैं, जिस कारण सुश्राव्य तो होते ही हैं, साथ ही सुग्राह्य भी होते हैं, तो क्या कारण रहा कि कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों ने इस शैली को नहीं स्वीकार किया? साथ ही स्तोत्रकाव्य तथा जयदेव के बीच इस शैली का क्यों अभाव रहा ? इन प्रश्नों का उत्तर देना बड़ा ही दुष्कर कार्य प्रतीत होता है। इस विषय में जहाँ तक यह कहा जा सकता है कि संस्कृत–छन्दों में रामायण के अतिरिक्त प्रकृत स्वर व्यञ्जन की समता का संयोजन गीतिकाव्यों में ही देखने को मिलता है, भक्तिकाव्यों में भी, महाकाव्यों एवं चरितकाव्यों तथा नाट्यकाव्यों में नहीं। वार्णिक वृत्त में भी अन्त्यानुप्रास के संयोजन से गीत्यात्मकता आ ही जाती है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि वार्णिक वृत्त में यह संयोजन उपयुक्त न होने के कारण इस शैली को नहीं अपनाया गया। हाँ, यह हो सकता है महाकाव्यादि में अन्त्यानुप्रास का संयोजन इतिवृत्त को कहने में समर्थ न हो। इसीलिये कालिदास प्रभृति महाकवियों ने अपने छन्दोविधान में इस शैली को नहीं स्वीकार किया होगा। स्तोत्रकाव्य (शङ्कराचार्य आदि के द्वारा विरचित) तथा जयदेव के बीच जितने भी महाकाव्य एवं नाट्यकाव्य लिखे गये, वे सभी सुश्राव्यता एवं सुग्राह्यता के लिए न लिखे जाकर, अपितु पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु लिखे गये हैं, जिस कारण ललित पदावली से युक्त अन्त्यानुप्रासात्मक काव्य का अभाव सा हो गया। अतः स्पष्ट है कि

संस्कृत–छन्दोविधान में अन्त्यानुप्रासात्मक शैली गीतिकाव्यों एवं भक्तिकाव्यों में ही प्रचलित हुई, महाकाव्य आदि छन्दोबद्ध ग्रन्थों में यह अपना स्थान नहीं बना पायी।

आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्यों में अन्त्यानुप्रास :–

जयदेव के बाद अन्त्यानुप्रास का प्रयोग संस्कृत–छन्दोविधान में लगभग समाप्तप्राय सा हो गया था, किन्तु आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्यों एवं भक्तिकाव्यों में इस प्रयोग की भरमार सी हो गयी है। शायद सङ्गीतात्मकता, तालबद्धता एवं लयबद्धता ही इसका कारण है। श्रीधर भास्कर वर्णेकर, जानकीवल्लभ शास्त्री, हरिदत्त शर्मा, राजेन्द्र मिश्र, श्री निवासरथ, राधावल्लभ त्रिपाठी, इच्छाराम द्विवेदी आदिकों के गीतिकाव्यों में अन्त्यानुप्रासात्मक रचनायें सप्तम अध्याय में आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्यों में प्रयुक्त छन्दों के विवेचन के अवसर पर देख सकते हैं।

सप्तम अध्याय

संस्कृत-गीतिकाव्य में छन्दोविधान

सप्तम अध्याय

संस्कृत-गीतिकाव्य में छन्दोविधान

प्रकृत अध्याय में छन्द का सङ्गीत के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए संस्कृत–गीतिकाव्यों में प्रयुक्त छन्दों के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है–

छन्द का सङ्गीत से सम्बन्ध :–

षष्ठ अध्याय में संस्कृत–छन्द एवं अन्त्यानुप्रास की विविध प्रवृत्तियों पर शोधपरक प्रकाश डाला गया। चूँकि अन्त्यानुप्रास के माध्यम से छन्द की सङ्गीतमयी प्रस्तुति करने में हम सफल होते हैं, अतः प्रश्न उठता है कि क्या छन्द का सङ्गीत से कोई सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप हम सबसे पहले 'सङ्गीत' को पारिभाषित कर रहे हैं। सङ्गीत का अर्थ है – "नृत्यं वाद्यञ्च गीतञ्च त्रयं सङ्गीतमुच्यते" अर्थात् जहाँ नृत्य, गीत एवं वाद्य का एक साथ प्रस्तुतीकरण हो, वह सङ्गीत तत्त्व के नाम से अभिहित है, किन्तु इस परिभाषा से हमें अपने प्रश्न का उत्तर खोजने में अपेक्षित सफलता नहीं मिलती, क्योंकि कतिपय छन्द ऐसे हैं जिन्हें नृत्य एवं वाद्य की सहायता के बिना ही साङ्गीतिक प्रस्तुति की उन्नत अवस्था में पहुँचाया जा सकता है। यदि हम सङ्गीत को इस तरह से पारिभाषित करें – "सम्यक् रूपेण गीयते यत् तत्सङ्गीतम्' अर्थात् जिसमें गेयता धर्म हो या यह कहें कि जिसे सम्यक् रूप से गाया जाये, वह सङ्गीत है। इस दृष्टि से छन्द का सङ्गीत (गीत) के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीतों को उनके उपकरण आरोह–अवरोह, ताल आदि से गाने पर जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वही आनन्द यदि हम छन्द का उसके विविध अवयवों यति, गति (लय) आदि से पाठ करते हैं, तो प्राप्त होता है।

मात्रिक छन्दों में गीत–रचना :–

संस्कृत–गीति या गीत–रचना वस्तुतः मात्रिक छन्दों में अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी रूप से हो सकती है। गीति का प्राण तत्त्व है– लय के साथ–साथ मधुरता। गीति में लय तत्त्व प्रधान हुआ करता है, जबकि महाकाव्यादि लय प्रधान न होकर भाव तथा अर्थगाम्भीर्य प्रधान हुआ करते हैं। गीति का विषय सर्वथा कोमल हुआ करता है, जबकि महाकाव्यादिकों का कठोर तथा कोमल दोनों। यही कारण कारण है कि गीतों की रचना मात्रिक छन्दों में ही हुई है। संस्कृत सर्जनविधा में गीति–विधा को छोड़कर जितनी भी विधायें हैं, उन सभी विधाओं में प्रायः प्रसङ्गानुसार छन्दों का चयन होता है। महाकाव्यादि वार्णिक वृत्त में चमत्कृत होते हैं, किन्तु गीति विधा में केवल एक ही तत्त्व है और वह है– लयमिश्रित मधुरता तथा यह मात्रिक छन्दों के माध्यम से विशेषतः आह्लादित होती है। अन्य शब्दों में, गीतिसर्जना या रचना मात्रिक छन्दों में वार्णिक छन्दों की अपेक्षा अधिक मधुर होती है।

ध्रुवाविधान के साथ मात्रिक छन्दों में गीति की परम्परा सर्वप्रथम आचार्य शङ्कर के स्तोत्र काव्यों में देखने को मिलती हैं। इससे पहले मात्रिक छन्दों में गीति–रचना देखने को नहीं मिलती । मात्रिक छन्द में गीति की एक झलक देखते हैं– आचार्य शङ्कर के 'चर्पटपञ्जरिका स्तोत्र में –

'दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः।।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे।। (ध्रुवपदम्)

प्रकृत स्तोत्रात्मक गीति को देखने पर यह ज्ञात होता है कि इसके प्रत्येक चरण में सोलह–सोलह मात्रायें हैं, किन्तु वार्णिक छन्द की परिधि में नहीं है, क्योंकि वर्णों की संख्या बराबर नहीं है। अतः यह मात्रिक छन्द है। यह एक सामान्य मात्रिक

छन्द है। हाँ, मात्राओं की संख्या समान होने के कारण इसे 'मात्रासमक' नामक मात्रिक छन्द कह सकते हैं। छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के द्वारा लक्षित 'मात्रासमक' नामक मात्रिक छन्द नहीं हैं, क्योंकि उसमें नवीं मात्रा का लघु रूप होना आवश्यक है, जबकि यहाँ लघुरूप न होकर गुरु रूप है। अतः इसे हम सामान्य मात्रिक छन्द ही कहेगें। आचार्य शङ्कर के द्वारा ही विरचित 'गोपिकाविरहगीत' में मात्रिक छन्द के एक दूसरे रूप का दर्शन करते हैं–

'एहि मुरारे कुञ्जविहारे एहि प्रणतजनबन्धो,

हे माधव मधुमथनवरेण्य केशव करुणासिन्धो। ध्रुवपदम्

रासनिकुञ्जे गुञ्जति नियतं भ्रमरशतं किल कान्त

एहि निभृतपथपान्थ।

त्वामिह याचे दर्शनदानं हे मधुसूदन शान्त।।

इस गीत में मात्रा एवं वर्ण दोनों की संख्यायें समान नहीं हैं। अतः इस गीत में मात्रिक छन्द का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। इस प्रकार हम स्तोत्रकाव्यों में मात्रिक छन्दों के दो रूप देखते हैं जिनमें गीत के तीन तत्त्व विद्यमान हैं– अन्त्यानुप्रास, ध्रुवविधान एवं साङ्गीतिकता। मात्रिक छन्दों में इन विशेषताओं को भलि–भाँति परखा जा सकता है।

गीतगोविन्द में छान्दसी योजना :–

आचार्य शङ्कर के बाद उपलब्ध गीतिकाव्यों में जो प्रथम गीतिकाव्य मिलता है, वह है– जयदेव का गीतगोविन्द। आचार्य शङ्कर और जयदेव के मध्य मात्रिक छन्दों में गीतिरचना का अभाव पाया जाता है। स्तोत्रात्मक काव्यों की तरह गीतगोविन्द में भी वार्णिक तथा मात्रिक दोनों छन्दों का प्रयोग हुआ है। गीति वाला भाग पूरा का पूरा मात्रिक छन्द में ही उपनिबद्ध है। गीतगोविन्द बारह सर्गों में विभक्त है, जिसमे पूर्व में वार्णिक छन्द तथा बाद में गीत हैं, जो मात्रिक छन्द में हैं।

स्तोत्रकाव्यों में मात्रिक छन्द का आश्रय लेकर गीति की जो धारा प्रवाहित हुई थी, उसका उफान वाला रूप गीतगोविन्द में प्रकट हुआ है। वस्तुतः गीति का आत्मतत्त्व लयमिश्रित मधुरता इन्हीं मात्रिक छन्दों में जीवन्त हो उठी है। जयदेव ने स्वयं अपनी सरस्वती को 'मधुर–कोमल–कान्त–पदावली' कहा । जितनी मधुर, कोमल तथा ललित पदावली से युक्त गीत इसमें हैं, संस्कृत की अन्य कविता में बहुत कम हैं। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि मात्रिक छन्द में गीतिविषयक यह ग्रन्थ अपूर्व है। यह रचना छन्दों में परिवर्तनीय क्रान्ति लायी, परिणामस्वरूप संस्कृत में एक नवीन रचना प्रणाली का विकसन हुआ। हाँ, गीतगोविन्दकार ने स्तोत्रात्मक गीतों को ही अपनी रचना का आधार माना होगा। इसके गीत अधिकतर आठ छन्दों वाले हैं, इसीलिये इसे 'अष्टपदी' या 'अष्टताल' कहते हैं।

गीतिभाग को छोड़कर गीतगोविन्द में पारम्परिक छन्दों की संख्या बानवे है, जिनमें मालिनी, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, शिखरिणी, स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित आदि बारह वार्णिक वृत्तों का प्रयोग हुआ है। शृङ्गार वर्णन, भक्तिवर्णन तथा कोमल प्रसङ्गों में मालिनी तथा वसन्ततिलका का प्रयोग अपने नाम को भी सार्थक करता है। इन्हीं पारम्परिक छन्दों में एक मात्रिक छन्द भी है और वह है– 'आर्या', जो संख्या में तीन हैं– यथा–

'अथ तां गन्तुमशक्तां चिरमनुरक्तां लतागृहे दृष्ट्वा।[१]

तच्चरितं गोविन्दे मनसिजमन्दे सखी प्राह।।

शेष दो स्थल सातवें तथा नवें सर्ग में हैं।[२] आर्या संस्कृत ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रयुक्त किया गया है। यह 'हाल' की गाथा सप्तशती की गाथा से बिलकुल मिलता–जुलता

---

[१] सर्ग– ६, पद्य–१

[२] सर्ग–६, पद्य–२, सर्ग–६, पद्य–१

है। यद्यपि पारम्परिक या शास्त्रों में लक्षित आर्या मात्रा एवं गणों में व्यवस्थित की गयी है। गीतगोविन्द के गीतों के समान इसके तदनुकूल स्पष्ट उच्चारण गणात्मक छन्दों तथा साङ्गीतिक मात्रिक छन्दों में भेद करते हैं। परस्पर मिश्रित तीन पङ्क्तियों की संरचनात्मक प्रवृत्ति और अनुकूल पङ्क्ति सम्पूर्ण चौबीस गीतों में प्रस्तुत की गयी है। प्रत्येक गीत में निश्चित पङ्क्ति 'ध्रुवपद' कहलाती है, जो दो पङ्क्तियों के बाद दुहरायी जाती है। यह गीत के बोल की एक निश्चित तथा सार्थक पङ्क्ति है। यह पूर्व में दो पङ्क्तियों के विस्तृत विवरण के लिए सन्दर्भ में सहायता करता है तथा उसके अर्थ को भी तीव्रता प्रदान करता है।

प्रत्येक गीत में विविध रूपों वाली पङ्क्तियाँ पाद कहलाती हैं। विशेष रूप से मात्रिक छन्दों की प्रवृत्ति में अन्त्यानुप्रासात्मक कविता के जोड़ों की शृङ्खला है। इस कारण इसे 'छन्दमाला' (Stanza-series) की पदावली से अभिहित किया जाता है। जयदेव के गीतगोविन्द में मात्रिक छन्दों का यही स्वरूप प्रकट हुआ है।

गीतगोविन्द में मात्रिक छन्दों की व्यवस्था गीतों में अन्त्यानुप्रासात्मक कविता की रचना करते ही एक विशेष छन्द गीतों में एक जोड़े से सम्बन्धित है और छांदसिक व्यवस्था एक–दूसरे गीतों से सम्बद्ध है। जयदेव के गीतों में प्रयुक्त छांदसिक प्रवृत्ति के उपर्युक्त तीन वैविध्य जयदेव की कविता की श्रुति–सुखदता को सिद्ध करते हैं।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि गीत के मात्रिक छन्द और आर्या जैसे पारम्परिक मात्रिक छन्दों में पर्याप्त मतभेद हैं। गुरु अक्षरों का प्रयोग प्रकृत गीत के मात्रिक छन्दों में विरल रूप से मिलता है। वे चतुर्मात्रिक गणों में, पादों तथा पङक्ति के अन्त में प्रारम्भिक स्थिति के लिये ही मुख्यतः प्रयुक्त दिखायी देते हैं। यह

गीत को उनके लयात्मकता तथा एक निश्चित अन्त्यानुप्रासात्मक मात्रायें प्रदान करता है। गीतगोविन्द में इसके अतिरिक्त और कहीं भी आग्रह नहीं है।

गीतों के छन्द और उसके उच्चारण का माध्यम स्पष्ट रूप से अपभ्रंश जैसी प्राकृत भाषा में मध्यकालिक कविता के छन्दों से साम्य रखते हैं। गीत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण छांदसिक प्रवृत्ति अपभ्रंश जैसी संस्कृतेतर भाषा की मध्यकालिक कविता की मूल कविता के आकार के साथ सम्बन्ध रखती है, जो उनके गीतों में सम्बोधनबोधक शब्द 'ए' के प्रयोग से परिलक्षित होती है।

गीत गोविन्द के गीतों के महत्त्वपूर्ण छन्द की प्रवृत्ति अट्ठाईस मात्रा वाली दो पङ्क्तियों को दुहराती है। उदाहरणार्थ तृतीय गीत की प्रारम्भिक पङ्क्तियाँ दर्शनीय है–

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।

मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे।।

विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।

नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।। ध्रुवापद

यहाँ मात्रिक छन्द में चतुर्मात्रिक गणों की व्यवस्था बनी हुयी है। चौबीस में से उन्नीस गीतों में यही क्रम है अर्थात् चतुर्मात्रिक गणों के सात–सात गण प्रत्येक पङ्क्ति में बनते हैं। अब तक लक्षित किसी भी मात्रिक छन्द में पूरे–पूरे सात–सात गणों की व्यवस्था नहीं है। अतः इसे हम केवल मात्रिक छन्द ही कहते हैं। गीत का छन्द गीतों के सङ्गीत के लय, ताल आदि संघटकों की व्यवस्था करता दिखायी देता है।

गीतगोविन्द की छांदसी प्रवृत्ति को उनकी परम्परा का अनुकरण करने वाले अनेक कवियों ने अपने काव्यों में अपनाया है। इस विधा के प्रमुख काव्य हैं–

गीतगोपाल, अभिनवगीतगोविन्द, गीतराघव, गीतगङ्गाधर, गीतपीतवसनम्, गीतगिरीशम्, गीतगौरीशम् आदि। इस श्रेणी के सभी रागकाव्यों में छान्दस सङ्गीत अथवा साङ्गीतिक छन्द का बहुलता से प्रयोग हुआ है। छन्द की इस प्रवृत्ति का परवर्ती संस्कृत–काव्य, विशेष रूप से अर्वाचीन संस्कृत काव्यों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसी क्रम में आगे हम आधुनिक संस्कृत गीतिकाव्य में छन्दोविधान का पर्यालोचन करेंगे।

आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्य एवं छन्द

संस्कृत–छन्दोविधान के प्रायोगिक विश्लेषण के प्रसङ्ग में छन्द एवं सङ्गीत के सम्बन्धों का प्रतिपादन करते हुए मात्रिक छन्दों में गीतिरचना के विषय में आचार्य शङ्कर के स्तोत्रात्मक पद्यों एवं जयदेव के 'गीतगोविन्दम्' में प्रयुक्त छन्दों की चर्चा की गयी। मात्रिक छन्दों में गीति–रचना की जो धारा 'गीतगोविन्दम्' में प्रवाहित हुई, उसी का सहारा लेते हुए आधुनिक संस्कृत गीतिपद्यों का स्वरूप भी मात्रिक छन्दों पर अवलम्बित हुआ, आजकल लिखी जा रही गीति–रचनाओं को देखते हुए यदि हम यह कहें कि गीति का छन्द मात्रिक छन्द ही है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। आधुनिक संस्कृत–गीति की जो विशेषता उभर कर आयी है, वह है–ध्रुवा–विधान। रागार्णव में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है – "न गानं ध्रुवकं विना" अर्थात् ध्रुवक या टेक के बिना गान या गीत कुछ भी नहीं है। गीतिकाव्य का यथार्थ स्वरूप इस ध्रुवक–युक्त कविता में ही है। इसीलिए आधुनिक संस्कृत–गीतिकार ने चतुष्पाद छन्दों–रचना की प्रवृत्ति को छोड़कर दो, चार, छह अथवा आठ पङ्क्तियों की छान्दस रचना के पश्चात् ध्रुवक में पौनः पुन्येन प्रयोग की प्रवृत्ति को अपनाया है। इस प्रवृत्ति का अनुकरण आधुनिक संस्कृत–गीतिकारों ने आचार्य शङ्कर के स्तोत्र काव्यों तथा जयदेव के गीतगोविन्द आदि से किया होगा।

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। समयवेग के साथ–साथ परिभाषायें बदल जाती हैं, प्रयोग बदल जाते हैं। आधुनिक संस्कृत कविता भी प्रकृति के इस शाश्वत नियम से अछूती न रही। यह अपने प्राचीन कलेवर को छोड़कर नये रूप में संस्कृत गीतिगगन में अवतरित हुई है। छन्दोविधान की दृष्टि से संस्कृत–पद्य–विधा में दो प्रकार के छन्दों का प्रयोग देखा जाता है– पहला पारम्परिक छन्दों का प्रयोग तथा दूसरा गीति–विधा में नवोद्भावित छन्दों का प्रयोग। पारम्परिक छन्दों में वार्णिक छन्दों की प्रधानता है, जिसमें महाकाव्य आदि लिखे जा रहे हैं। गीतिकाव्य में छन्दोविधान की दो धारायें प्रवाहित होती है– पहली छन्दोयुक्त कविता तथा दूसरी छन्दोमुक्त कविता। छन्दोयुक्त कविता में भी दो उपधारायें दिखलायी पड़ती है– पारम्परिक छन्दों में उपनिबद्ध तथा दूसरी अलक्षित मात्रिक छन्दों में उपनिबद्ध। संस्कृत–गीतिकाव्यकारों में पारम्परिक वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों को बहुत कम अपनाया है। आज की संस्कृत–कविता, जिसे डॉ० हरिदत्त शर्मा 'नयी कविता' का नाम देते हैं, में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ। सर्जन–विधा में छन्दोविधान की परीक्षा करने से यह ज्ञात होता है कि आधुनिक युगीन कविता में छन्दों का वैविध्य परिलक्षित होता है। वस्तुतः परम्परागत छन्दों से मुक्त होने की इच्छा तथा उसकी अराजकता के आतङ्क के कारण नये छन्दों का अन्वेषण भी हुआ।

<u>संस्कृतीकृत छन्द</u> :–

संस्कृत–कविता में छन्दों का परिवर्तन हिन्दी आदि संस्कृतेतर भाषाओं तथा कवियों की समसामयिक बोलियों के छन्दों के प्रयोगात्मक अवतरणों पर हुआ। यह परिवर्तन पिङ्गल के उत्तरकालिक छन्दःशास्त्रीय आचार्य जनाश्रय कृत 'जनाश्रयी छन्दोविचिति' में तात्कालिक लोकभाषा के कतिपय छन्दों के संस्कृत में लक्षण तथा

उदाहरण रूप में स्वीकृति द्वारा परिलक्षित होती है।[1] इसका सम्यक् प्रयोग दामोदरमिश्रकृत 'वाणीभूषण' तथा भट्टचन्द्रशेखरकृत 'वृत्तमौक्तिक' में प्राप्त होता है, जिसमें सामयिक भाषा के छन्दों को संस्कृत भाषा में उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिससे वे छन्द अपनी मूलभाषा के न होकर संस्कृत भाषा के ही जान पड़ते हैं। यह परिवर्तन परवर्ती छन्दोग्रन्थों में दिखलायी पड़ता है। एक उदाहरण वाणीभूषण से दर्शनीय है। दामोदर मिश्र के अनुसार दोहा छन्द वह मात्रिक छन्द है, जिसके विषम पादों में षट्कल (छः मात्रायें) + तुरगकल (चार मात्रायें) + त्रिकल (तीन मात्रायें) = १३ मात्रायें और सम पादों में षट्कल + तुरगकल + एककल = ११ मात्रायें होती हैं–

'षट्कलतुरगौ त्रिकलमपि विषमपदे विनिधेहि।
समपादान्ते चैककलमिति दोहामवधेहि।।[2]

उदाहरण –

चरणसरोरुहमस्तु हृदि, मे वदने तव नाम।
चक्षुषि रूपं यावदसु, रमय मनो मम राम।।[3]

पं० ब्रह्मानन्द शुक्ल ने अपने काव्य में दोहे का सटीक प्रयोग किया है, यथा–

'यानि कुत्र करुणाकरं, दीनबन्धुमपहाय।
याति न जलधारा क्वचित् जलनाथं परिहाय।।[4]

चन्द्रशेखर भट्ट ने अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ 'वृत्तमौक्तिक' में लोक प्रचलित दो सौ छन्दों का संस्कृतीकरण किया है। हिन्दी भाषा में प्रयुक्त सवैया छन्द का

---

[1] इदानीमन्याश्च काश्चिज्जातयो लोकप्रचरन्त्यो वक्ष्यन्ते (५/४४–४५ का वृत्ति भाग)

[2] १/५५

[3] १/५६

[4] पर्यनुयोग–२, विश्वसंस्कृतम्, १९६३, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर।

संस्कृतीकृत रूप वृत्तमौक्तिक में 'मागधी सवया'। सवैया नाम से मात्रासम चतुष्पदी छन्दों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है–

माधव विद्युदियं गगने तव कलयति पीतवसनमपिरामं,
जलधरनीलगगनपद्धतिरपि तव तनुरुचिमनुसरति निकामम्।
इन्द्रशरासनमपि तव वक्षसि मासितवरवनमालाशोभं,
कुरु मम वचनं सफलमहृदयं राधाधरमधुविरचित लोभम्।।[1]

प्रकृत मागधी सवया छन्द का लक्षण करते हुए चन्द्रशेखर भट्ट कहते हैं कि– जिस छन्द के प्रत्येक पाद में बत्तीस मात्रायें चतुर्मात्रिक गणों से नियमित हों और पादान्त में दो गुरु वर्ण हो, तो वह मागधी सवया (सवैया) छन्द है–

'अन्यदिनं मुनिनायकभाषितमन्त्यलघुं गुरुयुग्मसुयुक्तं,
योगचतुष्कलपूजितमन्यमिदं युगवहनिकलाभिरमुक्तम्।
पण्डितमण्डलनायकभूपतिमानसरञ्जनमद्भुतवृत्तं,
सर्वमिदं सवयाभिधुमुक्तमशेषकवीन्द्रविमोहतचित्तम्।।[2]

सम्भवतः हिन्दी भाषा की अनुकृति पर यह प्रयोग किया गया होगा। इसके अतिरिक्त निर्धायिका, शीर्षक, चौपैया, कुण्डलिका, सोरठा, हरिगीत, पज्झटिका, चौबोला, सवया (सवैया), घनाक्षर तथा विरुदावली छन्दों में द्विगाकलिका, द्विभङ्गीकलिका, उत्पलचण्डवृत्त, झुल्लन, आन्दोलिता आदि छन्दों का संस्कृतीकरण मिलता है। छन्दोमञ्जरी के पञ्चम स्तबक के अन्त में दोहा का 'दोहडिका' नाम से लक्षणोदाहरण सहित संस्कृतीकरण किया गया है।

---

[1] वृत्तमौक्तिक – १/५/३
[2] वही – १/५/२

छन्दों के अभिनव प्रयोग :–

आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्यों में भी अन्य भाषाओं के छन्दों की अनुकृति पर छन्दों का बहुशः प्रयोग किया जा रहा है। आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्य में छन्दोविधान के क्षेत्र में सर्वाधिक नये–नये प्रयोग किये गये। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री व्रजभाषा के छन्दों में दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, कुण्डलिका आदि के साथ उर्दू के काव्य से गज़लों में प्रयुक्त छन्द लेकर सफल काव्य–रचनायें प्रस्तुत करते हुए नये छन्दोविधान की आधुनिक संस्कृत–कविता में अवतारणा की। उसके पश्चात् गज़ल का प्रयोग सफलता के साथ करते हुए जगन्नाथ पाठक, राजेन्द्र मिश्र, हरिदत्त शर्मा, इच्छाराम द्विवेदी आदि कवियों ने संस्कृत–कविता को नया धरातल दिया। अनेक कवियों ने लोकगीतों के संस्कारों से अनुप्राणित होकर संस्कृत–काव्य–रचना में अभिनव प्रयोग किये। श्री भाष्यम् विजयसारथि ने तेलगू भाषा के लोकप्रचलित छन्दों में संस्कृत–कवितायें लिखी। प्रो० राजेन्द्र मिश्र की लोकगीतात्मक संस्कृत–सर्जनायें अत्यन्त प्रशंसा की पात्र बनीं। इस पूरे विवरणों से हम पातें हैं कि छन्दोविधान की दृष्टि से संस्कृत गीत की पाँच धारायें प्रवाहित हुई, जिनका विवेचन किया जा रहा है–

१. प्रथम प्रकार के गीत वे हैं, जिनके मूल में कोई न कोई परम्परागत छन्द– वार्णिक या मात्रिक–अवश्य विद्यमान रहता है। संस्कृत–गीतिकाव्यकारों ने वार्णिक छन्द के माध्यम से भी सुललित पदरचनायें की हैं। बाबू रेवाराम ने पण्डितराज जगन्नाथ की गङ्गालहरी की अनुकृति पर 'गङ्गालहरी' नामक गीति–काव्य की रचना की। इसमें उन्होंने शिखरिणी छन्द में गङ्गा के प्रवाह को बाँधा है, जिसमें लालित्य, मसृणता और सानुप्रास पदावली है। शिखरिणी के अतिरिक्त वसन्ततिलका का भी प्रयोग किया है। नर्मदालहरी में विषय के अनुकूल उद्दाम प्रवाह तथा प्रबल वेग को सूचित करने के लिए स्रग्धरा छन्द और अनुरूप पदावली का प्रयोग किया है–

'खेलन्त्यः सम्पतन्त्यस्तिमिरतमतमीकुञ्जरोत्फालकेलि..................................'

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने अपने गीतिकाव्य–सङ्ग्रह 'राष्ट्रगीताञ्जलिः' में राष्ट्रभक्तिपरक गीतों को वार्णिक एवं मात्रिक छन्द में ही उपनिबद्ध किया है। एक दो उदाहरण दर्शनीय हैं। ' राष्ट्रप्रहरी' शीर्षक से –

'अये राष्ट्रयोधाः ! अये वीरवर्याः !
अये छात्र–संघर्ष–सेनाऽधिनाथाः।
सदा सावधाना सदादत्तचित्ताः,
स्वदेशस्य रक्षाकृतौ जागरूकाः।। अये०।।
इमे स्वार्थलीना नरा वित्तलुब्धाः,
निजां स्वार्थसिद्धिं वरं मन्यमानाः।
जनानां सदा शोषणे लीनचित्ताः,
नराः पामरास्ते सदा ताडनीयाः।।

प्रकृत गीत में 'भुजङ्गप्रयात' नामक वार्णिक छन्द है। मात्रासमक नामक मात्रिक छन्द में उपनिबद्ध एक दूसरा गीत, 'कृषकः' शीर्षक से–

'जयतु कर्षको भारत–त्राता,
अन्न–धान्य–धन–जीवन–दाता।
शान्त–साधकः प्रतिपल योद्धा,
कृत्ति–तत्ति–रक्त–दोष–संशोद्धा।।

पण्डित रामावतार शर्मा ने 'मयूरशतक' नामक गीतिकाव्य को स्रग्धरा छन्दों में गीतिबद्ध किया है। यह गीतिग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक संस्कृत–कवियों ने पारम्परिक छन्द के माध्यम से गेयता धर्म को उन्नत बिन्दु पर पहुँचाने का प्रयास किया है। आधुनिक संस्कृत–जगत् में राष्ट्रभक्तिपरक कविता लिखने के लिये प्रसिद्ध डॉ० रामकान्त शुक्ल ने अपना प्रसिद्ध काव्य 'भाति मे भारतम्' यद्यपि पारम्परिक स्रग्विणी छन्द में बद्ध किया है, फिर भी पूरी तरह गीत्यात्मक काव्य के रूप में प्रसिद्ध हो चुका है और डॉ० शुक्ल गीत–रूप में ही पूर्ण

प्रभाव के साथ इसे प्रस्तुत भी करते हैं। देखने पर यह साधारण छन्द ही प्रतीत होता है, पर इसकी व्यावहारिक प्रस्तुति इसे गीत्यात्मक रूप में ला देती है, उदाहरणार्थ–

यत्र सत्यं शिवं सुन्दरं राजते,

रामराज्यं च यत्राभवत्पावनम्।

यस्य ताटस्थ्यनीतिः प्रसिद्धिं गता,

भूतले भाति तन्मामकं भारतम्।।[1]

पारम्परिक वार्णिक छन्दों में गीत्यात्मक सर्जना की एक दूसरी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है और वह है– एक ही शीर्षक की कविता में भावानुसार विविध छन्दों का समावेश। प्रायः अपनी कविता में या कविता सङ्ग्रह में कवियों का किसी एक ही परम्परागत छन्दों में गीत्यात्मक अभिनिवेश होता है, किन्तु कभी–कभी कवि एक ही कविता में भावानुकूल विविध छन्दों का सन्निवेश करता हुआ दिखायी देता है। इस विशेषता को लिये हुये डॉ० हरिदत्त शर्मा की यह कविता बड़ी ही हृदयावर्जक है। इसमें पन्द्रह पद्य हैं तथा वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, उपजाति, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित तथा स्रग्धरा इन दस छन्दों का प्रयोग किया है। कविता में ये सभी छन्द भावों का परिपोष करने में समर्थ दिखायी देते हैं। एक पद्य दर्शनीय है–

'खल वद तव किं रे नाम ! दण्डाधिकारी,

ह्यवददिति स ऊचे भो ममाजाद सञ्ज्ञा।

पुनरपि जनकः क : सोऽस्ति नाम्ना स्वतन्त्र–

स्तव वसतिरितः कः सास्ति कारागृहं मे।।[2]

---

[1] भाति में भारतम्, पद्य संख्या–६८

[2] स्वातन्त्र्यस्वर्णसौरभम्, आजादश्चन्द्रशेखरः, पद्य संख्या–६, पृ०–१८

मालिनी छन्द में उपनिपद्ध यह उस समय का प्रसङ्ग है, जब अँग्रेज अधिकारी बालक चन्द्रशेखर से डपटकर उसका परिचय पूछता है और बालक निर्भीकता से उसका उत्तर देता है। इस छन्द के माध्यम से कवि अपने भाव को स्पष्ट करने में सफल हुआ है साथ ही मालिनी छन्द में बड़ा ही रोचक बन गया है।

२. दूसरी विधा वह है, जिसमें भारत के विभिन्न अञ्चलों में प्रचलित लोकगीत की धुनों या लयों पर लिखे गये छन्दोबद्ध काव्य हैं तथा दूसरी भाषाओं के छन्दों का संस्कृत रूप परिलक्षित होता है। लोकगीतों में व्रज के रसिया गीत, अवधी भाषा में प्रचलित गीत (कजरी, सोहर, कँहरवा, होलीगीत) चैता गीत आदि प्रमुख रूप से संस्कृत–गीतिकाव्यों में प्रयुक्त हो रहे हैं। संस्कृत–कविता में नवीन छन्दःसंस्कार की दृष्टि से भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का योगदान अमूल्य है। अब तक अप्रयुक्त छन्दों में लिखते हुए भी शास्त्री जी ने कहीं भी आयास का अनुभव नहीं होने दिया। लय और अन्त्यानुप्रास का निर्वाह उनमें आधुनिक भारतीय भाषाओं के समान मिलता है। शास्त्री जी ने कुण्डलिका छन्द का कितना सुन्दर संस्कृत–छन्द के रूप में प्रयोग किया है, यथा– एक उदाहरण पर्याप्त होगा–

'सज्जनमैत्री सन्ततं स्नेहभरं पुष्णाति। क्रमशो वृद्धिमुपागता दोषनपि मुष्णाति।
दोषानपि मुष्णाति निर्गुणे गुणमाधत्ते। निर्वेदं निर्वास्य मनसि सम्मोदं दत्ते।।
सत्कार्येषूत्साहवर्द्धिनी जडता जेत्री। स्नेहसार विश्रम्भसन्तता सज्जनमैत्री।।'[१]

कमलेश मिश्र ने अपने 'कमलेश विलासः' नामक काव्य में सोहर, दादराताल में भैरवी राग से गेय हरिगीतिका, गज़ल, दोहा, दिक्पाल छन्द, रेखता, कौव्वाली, ठुमरी, होली, चैता, कजरी, झूलनामलार, बिहाग, खेमटा, टोड़ी, लावनी, झूमर, नहदू

[१] प्रकृति पर्यवेक्षणम्–११, संस्कृत प्रतिभा, अप्रैल १९५९

आदि लोकगीतात्मक छन्दों का संस्कृत–छन्द के रूप में प्रयोग करने का एक सार्थक एवं सफल प्रयास किया है। दोहा की तरह एक छन्द दर्शनीय है–

चम–चम–चमत्कृदाचञ्चन्ती चपला मुहुरुदरे सम्भाति।

प्रिय क्व हे ! ति च चातकी, पिकी कुहूरति कौति।।

'श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मनहरणभवभयदारुणम्' की तर्ज़ पर कमलेश जी ने अपने काव्यसङ्ग्रह के अन्त में कितना सुन्दर प्रयोग किया है–

कमलेशगीतमिदं मुदा स्वरतालमञ्जिममञ्जुलम्।

शृणु तस्य तत्र पदे मनोऽपि समाविधेहि सुपावने।।

नयी कविता में छन्द की दृष्टि से लोकगीतों पर आधारित गीतशैली का विकासमान रूप दृष्टिगत हो रहा है। इसमें प्रमुख रूप से लोकगीतों के माध्यम से लोकसंस्कृति की ओर इनकी दृष्टि प्रत्यावर्तित है। लोकगीतों के छन्दों को संस्कृत गीति–काव्य के छन्दों का रूप देने वाले कवियों में अग्रिम पङ्क्ति के कवि हैं– डॉ० राजेन्द्र मिश्र, जिन्होंने अपनी कविता में कजरी, सोहर, गज़ल, चैतागीत, होलीगीत, बुन्देलखण्डी गीत तथा व्रज के रसिया गीतों का अपने काव्यों में संस्कृत–छन्द का रूप देकर प्रशंसनीय कार्य किया है। उत्तरप्रदेश के ग्राम्य अञ्चलों में गाये जाने वाले 'कँहरवा' को 'स्कन्धहारीयम्' गीत के रूप में, उर्दू गज़ल को 'गलज्जलिका' के रूप में तथा कजरी को विविध रागमयी गीतियों के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके स्पष्टीकरण के अनुसार व्रजप्रदेश में विद्यमान 'रसिया' के समान तथा बुन्देलखण्ड प्रदेश के 'लाँगुरिया' की भाँति ही पूर्वी उत्तरप्रदेश में (विशेष रूप से मिर्जापुर में) वर्षाकाल में कजरी गायी जाती है, उसी कजरी छन्द का संस्कृत–छन्द में रूपान्तरण का एक गीत प्रस्तुत है–

रौति कोकिला मदालसा रसालतरौ,

गोपिता तमालतरौ रे।।

क्षणं पल्लवे निलीय

मञ्जरीरसं निपीय

स्तौति सम्मुखं वसन्तकं रसालतरौ,

गोपिता तमालतरौ रे ।।

नन्दनन्दनं विहाय

कीर्तिनन्दनी सुखाय

वेत्ति नेषदप्यनामयं रसालतरौ

गोपिता तमालतरौ रे ।।

मन्दमन्दगर्जनेन

भूमिभूरिवर्षणेन

मेघमालिका महीयते रसालतरौ

गोपिता तमालतरौ रे।।

रौतिकोकिला ....[१]

उर्दू के गज़ल छन्द संस्कृत में 'गलज्जलिका' छन्द का रूप डॉ० मिश्र जी ने कितना सटीक दिया है—

'श्रृणोति कोऽपि न मे वाचिकं ददे कस्मै ?

वृणोति कोऽपि न मे वाचिकं ददे कस्मै ?

व्यथाकथेयमहो मामकी पुरावृत्ता,

अनिर्व्यथे हि भवे वाचिकं ददे कस्मै ? [२]

---

[१] वाग्वधूटी – पृष्ठ संख्या – ६३

[२] वही, पृष्ठ संख्या – ७५

इसी प्राकर सोहर, कँहरवा, चैता, होलीगीत आदि इनकी 'मृद्वीका' तथा 'वाग्वधूटी' आदि कृतियों में देखने को मिलते हैं। डॉ०मिश्र की वाणी ने लोकभाषाओं में प्रचलित गेय छन्द को संस्कृत–छन्द का रूप देकर यह सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत भाषा लोकभावनाओं को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है।

इसी प्रवृत्ति को और अधिक समृद्ध बनाने वाले कवियों में डॉ० हरिदत्त शर्मा का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने अपनी कविता को व्रज के गीतों, कौव्वाली आदि लोकगीतात्मक छन्दों से सजाया है। वर्षाकाल में (विशेष रूप से श्रावण मास में) व्रज की युवतियों के द्वारा झूले पर झूलते हुए गाये जाने वाले 'मल्हार' गीत की लय पर संस्कृत–कविता 'गोपवधूटीप्रेरणम्' में कितना सुन्दर प्रयोग है, एक उदाहरण दर्शनीय है–

'यमुनापुलिने विहरति माधवो रे !
चल सखि कुञ्जं, काननकुञ्जम्,
चल सुकुमारि ! ।। यमुनापुलिने० ।।
श्यामलमेघैरावृतमम्बरं रे !
प्रियसखि मन्दं जनितानन्दं,
वर्षति वारि ! ।। यमुनापुलिने० ।।'[1]

ठेठ ग्रामीण परिवेश में गाये जाने वाले लोकगीत पर आधारित डॉ० शर्मा का वर्षागीत 'वर्षति पानीये' शीर्षक से–

'रिमझिमझिम् वर्षति घनमाला
घनपयसा स्विन्ना नवमाला
पूरोत्प्लवनमहो समन्ततः

---

[1] गीतकन्दलिका, गीत संख्या–२

सरित्सरोनदपानीये।

चल ललने! मज्जावः ससुखं

यथा सुमीनौ पानीये।।[1]

ओगोट्टि परीक्षित् शर्मा ने अपनी रचना 'ललितगीतलहरी' में मॉझीगीत, डिस्को गीत आदि लिखकर संस्कृत–कविता में लोकगीतात्मक छन्दों की परम्परा को आगे बढ़ाया। यद्यपि डिस्को गीत संस्कृत भाषा में सङ्गत नहीं बैठता।

आधुनिक संस्कृत–कविता में छन्दोविधान की तीसरी विधा है– नवगीत विधा में प्रयुक्त छन्द। कतिपय प्रसिद्ध कवियों के द्वारा स्वोद्भावित लयात्मक छन्दों का अविष्कार देखा जाता है। इस प्रकार के छन्दों का संस्कृत कविता में बहुशः आविष्कार करने वाले कवियों में प्रमुख हैं– श्रीधर भास्कर वर्णेकर, जानकीवल्लभ शास्त्री, श्रीनिवास रथ, बच्चूलाल अवस्थी, जगन्नाथ पाठक, राजेन्द्रमिश्र, हरिदत्त शर्मा, रमाकान्त शुक्ल, इच्छाराम द्विवेदी, पुष्पा दीक्षित, नलिनी शुक्ला, भास्कराचार्य, राधावल्लभ त्रिपाठी, अमरनाथ पाण्डेय, जनार्दन प्रसाद पाण्डेय 'मणि', ओमप्रकाश ठाकुर, दीपक घोष, उमाकान्त शुक्ल, हरीराम आचार्य, श्रीभाष्यम् विजय सारथि, शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी, ओगोट्टि परीक्षित शर्मा, प्रफुल्ल कुमार मिश्र आदि। इनमें कुछ प्रमुख कवियों के स्वयं उद्भावित छन्दों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं–

छन्दोविधान के इस रूप को गति देने वाले आचार्यों में प्रतिनिधिभूत कवि हैं– श्रीधर भास्कर वर्णेकर, जिन्होंने नवोद्भावित छन्द का आविष्कार कर अन्य कवियों को अपने–अपने लयात्मक छन्दों में कविता लिखने के लिये प्रेरित किया। वर्णेकर ने 'रामसङ्गीतिका' तथा 'कृष्णसङ्गीतिका' में स्वाविष्कृत छन्दों का ही प्रयोग किया है। एक उदाहरण 'रामसङ्गीतिका से अवलोकनीय है–

---

[1] गीतकन्दलिका, गीत संख्या–२५

'वद वद सीते ! सखि कोऽयम्

राजकुलीनो वल्कलधारी।

नवनीरद इव सुभगशरीरी।।

हरते तव हृदयम् ....

वद् ....

अपि शिवचापं तमतिगुरुतमम्।

सुकुमारोऽयं सुदुर्धरतभम्।।

करोत्याततज्यम् ....

वद् ....

जानकी वल्लभ शास्त्री ने आरम्भ में ही सुमधुर संस्कृत–गीतों की अवतारणा कर इस क्षेत्र में अपना विशिष्ट योगदान किया । साङ्गीतिकता, मधुरता और लयात्मकता उनके गीत्यात्मक छन्दों के प्रमुख गुण हैं। उनके अनेक प्रसिद्ध गीतों में से यह सुप्रसिद्ध गीत उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है–

'निनादय–नवीनामये वाणि ! वीणाम्।

मृदुं गाय गीतिं ललित–नीति–लीनाम्।।

मधुर–मञ्जरी–पिञ्जरीभूत–मालाः।

वसन्ते लसन्तीह सरसा रसालाः।।

कलापाः कलित–कोकिला–काकलीनाम्।

निनादय–नवीनामये वाणि ! वीणाम्।।

आधुनिक संस्कृत–कविता के क्षेत्र में उज्जयिनी के कविवर श्रीनिवास रथ ने नवगीत छन्द की परम्परा को एक नवलय विधान के साथ नये प्रयोग के रूप में उद्भावित किया है। कहीं–कहीं उनकी कविता में पञ्चचामर जैसे परम्परागत छन्द

का लय–विधान दिखायी पड़ता है, तो कहीं–कहीं संस्कृत–काव्य–संस्कार से अनुप्रेरित नव लयविधान। इनके काव्य के छन्दोविधान पर टिप्पणी करते हुये डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी ने कहा है कि इनके गीतों में नियोजित लयविधान श्री शङ्कराचार्य के स्तोत्रों में और श्री जयदेव की ललित पदावलियों में सुनायी पड़ते हुये लय विधान से तुलना करता है। जैसे भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने स्तोत्रों में संस्कृत–काव्य का नया लय विधान पहली बार प्रकाशित किया अथवा श्री जयदेव ने गीत गोविन्द में संस्कृत–गीति की एक अभिनव पदावली की उद्भावना की, उसी प्रकार रथ के गीतियों में प्रचलित छन्दों का आश्रय लेकर ही गीति की वस्तु के अनुसार नया लयविधान विद्योतित हो रहा है। कविवर रथ के द्वारा उद्भावित उनकी गीतिशैली नितान्त नवीन एवं मौलिक है। यद्यपि उसकी स्वर माधुरी का पूरा आनन्द उसकी श्रवणीयता में ही है, फिर भी उसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

'जीवनगतिरनुदिनमपरा।
तदेव गगनं सैव धरा।।
पापपुण्यविधुराधरणीयम्,
कर्मफलं भवतादरणीयम्।
नैतद्–वयोऽधुना रमणीयम्
तथापि सदसद्–विवेचनीयम्।।
मतिरतिविकला
सीदति विफला
सकला परम्परा । तदेव ....'[१]

---

[१] तदेव गगनं सैव धरा, गीत– १

डॉ० जगन्नाथ पाठक ने संस्कृत–पद्य के क्षेत्र में पारसी साहित्य और उर्दू साहित्य के अनुसार बनने वाले मुक्तकों को नये छन्द के रूप में प्रस्तुत किया है। इन भाषाओं के विविध छन्दों में विरचित विविध पद्यों से प्रेरणा लेकर अपने काव्य का विषय बनाया है। इस पद्धति के अवलम्बन से उनकी गीतियों में एक नया रूप आ गया, जैसे– उनकी गीतियों में विद्यमान ध्रुवा के वे ही शब्द बार–बार आवृत्त होते हैं और वे छन्दोविधान को एक नया प्रयोग देते हैं। उनकी प्रकृत गीति में 'न जाने' के प्रयोग से छन्द की नवीनता दर्शनीय है–

'विधात्रा किं कृतं भाले, न जाने,
न जाने त्वां सुदृग्जाले ! न जाने।
तवच्छायाऽपि लब्धुं, शक्यते किम्,
क्व दूरे त्वं महाशाले, न जाने।
क्वचिद् वर्णे सुवर्णे ! लभ्यसे त्वम्,
क्व वा गौरे क्व वा काले, न जाने।'[१]

संस्कृत–काव्य के क्षेत्र में पं० बच्चूलाल अवस्थी ने भी ग़ज़ल गीतियों का सुन्दर प्रयोग किया है। इनके ग़ज़ल गीतों में अन्त्यानुप्रास के प्रयोग के कारण एक विलक्षण श्रुतिमधुरकाव्यविच्छित्ति उत्पन्न होती है। 'किमुन्नेयम्' शीर्षक गीति का यह उदाहरण दर्शनीय है–

'तमिस्रामुद्गिरन्ती दीपमाला दीपिता केयम्।
निकाये चर्मपत्राणां प्रभाप्राणैः किमास्थेयम्।।
अपि प्राणन्ति ते प्राणन्तु येषां प्राणमं प्रेयः।
विनैव प्रीणनं जीवातवे किं नाम जीवेयम्।।'[२]

---

[१] पिपासा, गीत – २
[२] प्रतानिनी, प्रतान–३, गीत–२०

आधुनिक संस्कृत–कविता के क्षेत्र में कुछ कवयित्रियों ने भी छन्दोविधान में अभिनव प्रयोग कर उन्हें नयी दिशा प्रदान की। इनमें डॉ० पुष्पा त्रिवेदी का नाम अग्रगण्य है, जिन्होंने नवगीत विधा के माध्यम से प्रणय एवं विरह के भावों को शब्द दिये हैं। उनके भी गीतों के लय नवोद्भवित हैं, गेय हैं एव हृत्तन्त्री को झङ्कृत करने वाले हैं। इस नवगीत विधा का प्रस्तुत उदाहरण नव छन्दोविधान का एक सुन्दर प्रयोग 'कोणमेकं देहि मे' शीर्षक से–

'प्रीणये हृदयं त्वदीयं,
केन विधिना ब्रूहि मे।
प्रापणं तव हृदि भवेन्नु,
तदेव वर्त्म विधेहि मे।।
प्रीणये हृदयं त्वदीयं केन विधिना ब्रूहि मे।।[१]

प्रकृत गीत विधा में कानपुर की संस्कृत–कवयित्री डॉ० नलिनी शुक्ला का भी कम योगदान नहीं है। अनेकशः उनके गीतों में अन्त्यानुप्रास और छन्द का कोई न कोई स्वरूप दिखायी देता है, परन्तु उस छन्द को परम्परागत छन्द का रूप नहीं दिया जा सकता, फिर भी उसमें नये प्रकार का कोई न कोई छन्दोविधान अवश्य है। 'एत एत भारतस्य वासिनः' शीर्षक से उदाहरण दिया जा रहा है–

एत एत भारतस्य वासिनः।
विस्मृता विधाय क्षुद्रकामनाः
विस्मरेन्नु वैमनस्य भावनाः
एकमेव लक्ष्यमस्तु धीमताम्।
एत एत भारतस्य वासिनः।।[२]

---

[१] अग्निशिखा, गीत– २२

[२] निर्झरिणी, गीत–३३

नवोद्भाविषत छन्दस्कारों की पङ्क्तियों में एक महत्त्वपूर्ण नाम आता है– डॉ० हरिदत्त शर्मा का, जिन्होंने गीत्यात्मक नवीन छन्द की मौलिक उद्भावना की। गीत्यात्मक नवीन छन्द में उपनिबद्ध एक उदाहरण 'मम वेदना न याता' शीर्षक से–

'मम वेदना न याता

संवेदना न याता।

याता प्रिये ! त्वमेव

तव संस्मृतिर्न याता।।

सौरभभरा समन्तान्

मधुमासपुष्पमाला।

मृदुमञ्जरीरसाले,

रसकारिणी न जाता

याता ....।[1]

आधुनिक संस्कृत–कविता की नवगीत विधा के एक मधुर रचनाकार डॉ० इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव' हैं, जिन्होंने अनेक नवोद्भूत छन्दों में सुमधुर गीत लिखकर संस्कृत के नव छन्दोविधान को अपना योगदान किया है, उन्हीं छन्दों में से एक छन्द 'गीतमन्दाकिनी' शीर्षक से उद्धृत है–

'अर्थवर्षानदीसैकते साम्प्रतं

गीत मन्दाकिनी शुष्कतामुपगता

चञ्चलैश्शब्दगुच्छै–

र्युतं जीवनम्

भावनागन्धहीनम्

---

[1] गीतकन्दलिका, गीत–३०

भृशं दृश्यते

सर्जने मूल्यचिन्ता

विलुप्ताऽधुना

मात्रवाणीविलासो

दरीदृश्यते

काव्यकोलाहलो मञ्चके दृश्यते

तत्त्वदृष्टिः परं शून्यतामुपगता।।[१]

वारंगल क्षेत्र के अभिनव कवि श्रीभाष्यं विजय सारथि ने 'मन्दाकिनी' नामक काव्य लिखकर छन्द का एक अपूर्व प्रयोग किया है, जिसके विषय में श्रीधर भास्कर वर्णेकर का कहना है कि पुराण ग्रन्थों में वर्णित सर्वत्र सुप्रार्थित गङ्गावतरण कथा को श्री भाष्यम् विजय सारथि ने संस्कृत साहित्य–संसार के गीतकाव्य के दारिद्र्य का स्वल्प निवारण करने के लिये उसे पञ्चमात्रात्मक गीतों में उपनिबद्ध किया है। शब्दों के लय और गति में एक नवीनता तथा भाषा में एक अपूर्व प्रवाह है। उनके गीत–सङ्ग्रह का एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जो तेलगू भाषा के लोकप्रचलित छन्दों में से एक है–

परिवहति परिवहान्मन्दाकिनी।

आनन्दरसधुनी मन्दाकिनी।।

कल्लते मल्लते घनवियन्मण्डले

कञ्चते काञ्चते घनतमोमण्डले

त्रंकते वंकते तारकामण्डले

जोतते योतते ज्योतिषां मण्डले

---

[१] गीतमन्दाकिनी, गीत–१२

शिवदन्ते स्कुन्दते चन्द्रमोमण्डले

अकति......................................[1]

आधुनिक संस्कृत–कविता में छन्दोविधान की चतुर्थ प्रवृत्ति है– छन्दोमुक्त कविता। विगत दो दशकों में संस्कृत कविता के क्षेत्र में कुछ ऐसी रचनायें की गयीं, जिनमें पारम्परिक वार्णिक छन्दों का तो सर्वथा अभाव है ही, मात्रिक छन्दों का भी निवेश नहीं दिखायी देता है। कहने का आशय यह है कि इस काल की कविता छन्द के बन्धन से मुक्त है, तथापि उसमें अपनी तरह की एक गतिमयता विद्यमान है। छन्दोमुक्त संस्कृत–कविता की प्रवृत्ति हिन्दी आदि अन्य भाषाओं की कविता की अनुकृति पर प्रवर्तित हुई है। कलेवर की दृष्टि से इस काल की कविता छन्दोविहीन होती हुई भी गत्यात्मकता एवं भावात्मकता के कारण कविता की परिधि में आ जाती है। इनमे कोई गेय छन्द नहीं है, फिर भी उनका एक विशेष प्रकार के स्वर में पाठ किया जा सकता है, जो अत्यन्त हृदयग्राही होता है और यह हृदयग्राहिता ही उसे कविता की कोटि में ला देती है। इस प्रवृत्ति के पोषक कवि एवं उनकी रचनासङ्ग्रह में प्रसिद्ध हैं– कृष्णलाल कृत 'ऊर्वीस्वनः', 'सिञ्जारवः' एवं 'शशिकरनिकरः' देवदत्त भट्टिकृत 'इरा' तथा 'सिनीवाली', केशवचन्द्रदाशकृत 'महातीर्थम्', 'भिन्नपुलिनम्', 'अलका', 'ईशा', आदि, हर्षदेव माधवकृत 'रथ्यासु जम्बुवर्णानां शिराणाम्', 'शब्दानां निर्मक्षिकेषु ध्वंसावशेषेषु,' 'कालोऽस्मि,' 'मृत्युशतकम्', 'पुरा यत्र स्रोतः', 'निष्क्रान्ताः सर्वे,' 'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि' आदि, इन्द्रमोहन सिंहकृत 'हिरण्यरश्मिः' व्योमशेखर कृत 'अग्निजा' प्रवेश सक्सेनाकृत 'अनुभूतिः' आदि प्रमुख हैं।

कविता के कलेवर को छन्द के बन्धन से रहित रूप में प्रस्तुत करने वाले कवियों में केशवचन्द्र दाश का नाम प्रमुख है। मूलतः ये उपन्यासकार एवं कथाकार

[1] मन्दाकिनी, गीत–१

हैं, किन्तु छन्दोविहीन कविता को भी इन्होंने अपने प्रतिभा से नया स्वरूप प्रदान किया है। उदाहरणार्थ 'रजनी विजनी भवति' यह छन्दविहीन कविता प्रस्तुत है–

'रजनी विजनी भवति

एकाकिनी गृहिणीव

हेमन्तस्य शिशिरबिन्दवे–

तारका करकायते

व्यथा कथामारभते

अवितथं प्रथयितुं

यथा कथञ्चित्

समाप्तिसोपाने

जनसम्मर्दस्य उत्थाने–पतने'[1]

छन्दोमुक्त कविता को गति देने वाले सशक्त युवा कवि हर्षदेव माधव की एक कविता से हम छन्द की प्रवृत्ति को स्पष्ट कर सकते हैं–

'पुरा यत्र स्रोत आसीत्

तत्राधुना अश्रुबिन्दुनां प्रतिच्छायाः प्रसृताः।

पुरा यत्र स्रोत आसीत्

तत्राधुना गृध्रविहगाः

जलस्य शोकसभायां (!) दृश्यन्ते निमन्त्रिताः।

भवभूते !

त्वयापि "पुरा यत्र स्रोत" इति'[2]

---

[1] ईशा, गीत–३

[2] निष्क्रान्ताः सर्वे १/३

आधुनिक संस्कृत–कविता में छन्दोविधान की एक और धारा दिखायी देती है और वह है– वैदेशिक भाषाओं के छन्दों का संस्कृत–कविता में निवेश। इस धारा को प्रवर्तित करने वाले प्रतिनिधि कवि हैं– हर्षदेव माधव, जिन्होंने जापानी छन्द 'ताङ्का' तथा 'हाइकू' आदि का अपनी कविता में प्रयोग किया है। 'ताङ्का' एक प्रकार का जापानी छन्द है। इसका लक्षण निरूपित करते हुये स्वयं कवि माधव कहते हैं कि इसमें पाँच, सात, पाँच, सात–सात (५–७–५–७–७) अक्षरों से युक्त पाँच पङ्क्तियाँ काव्य के कलेवर की रचना करती हैं। माधवकृत 'प्रणयच्छेदः' शीर्षक से एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

'विवाहोत्सवे
पाणिग्रहणकाले
आवाभ्यां
हस्तेन हस्तो गृहीतः
न हृदयेन हृदयम्।।'[1]

जापान देश का ही एक अत्यन्त लघु छन्द 'हाइकू' जिसमें केवल तीन लघु पङ्क्तियों में एक सम्पूर्ण विचार, एक सम्पूर्ण कल्पना सरलता से प्रस्तुत किया जाता है, को भी हर्षदेव माधव ने संस्कृत–कविता में अपनाकर नया कार्य किया है। 'कालोऽस्मि' नामक कविता सङ्ग्रह, जो जापानीय छन्दद्वय में उपनिबद्ध है, से उदाहरण प्रस्तुत है–

'समयवह्निः
मुखस्य मांसं दग्ध्वा
कपालं सृजति।'[2]

इसके अतिरिक्त कविवर माधव जी ने कोरियाई कविता से 'शिजो' नामक छन्द लेकर अपनी कविता में प्रयोग किया है।

---

[1] पुरा यत्र स्रोतः, कविता–६०

[2] कालोऽस्मि, पृष्ठ–३६

नवोद्भावित छन्दों के नामकरण एवं लक्षण :—

शास्त्रीय समीक्षा में लक्ष्य—लक्षण—ग्रन्थ—परम्परा का विद्यमान होना नितान्त आवश्यक होता है, किन्तु आधुनिक संस्कृत—कविता में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण—निरूपण—ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हो सका, जबकि स्वातन्त्र्योत्तर भारत में या २०वीं शती के मध्य से लेकर आज तक अनेक गीतिकाव्य सङ्ग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें प्रयुक्त नव नव छन्दों को क्या नाम दिया जाये तथा इनका स्वरूप कैसा है? इस विषय में आचार्य रामकिशोर मिश्र — जिन्हें आधुनिक छन्दःशास्त्रीय आचार्य होने का श्रेय दिया जा सकता है— ने सराहनीय कार्य किया है। इन्होंने अपने छन्दोग्रन्थ 'छन्दस्कलावती' में आधुनिक संस्कृत—कविता में प्रयुक्त कतिपय नवीन छन्दों का नामकरण करने के साथ—साथ उनका लक्षण भी किया है। इसके अतिरिक्त रामायण एवं महाभारत में प्राप्त अलक्षित — जिनका लक्षण आचार्य पिङ्गल से लेकर किसी भी छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने नहीं किया है— छन्दों का भी नामकरण के साथ लक्षण प्रस्तुत कर इन्होंने अपने आपकों छन्दःशास्त्र जगत् में आचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं—

I S I S S I S I S S

'उदङ्मुखं तद्रथं चकार'[१]

आचार्य मिश्र अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ 'छन्दस्कलावती' में इस छन्द को 'निरूपण' नाम से लक्षित करते हुए कहते हैं कि जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण, रगण तथा एक गुरु वर्ण हो, वह 'निरूपण' छन्द है—

'जतौ रगू चेन्निरूपणं तत्'[२]

---

[१] वाल्मीकि रामायण, २/२६/३४

[२] छन्दस्कलावती २/१

वार्णिक छन्दों के लक्षण निरूपण में आचार्य ने केदारभट्ट का अनुकरण करते हुये लक्ष्य लक्षण शैली को ही अङ्गीकार किया है। एक उदाहरण महाभारत से–

I S S S I I S S I S S

गुरुं शिष्यो वरयेद् गोप्रदाने स वै गन्ता नियतं स्वर्गमेव।

विधिज्ञानां सुमहान् धर्म एष विधिं ह्याद्य विधयः संविशन्ति।।[१]

डॉ० मिश्र ने इसका नामकरण 'रमा' करते हुये लक्षण किया है– "रमा सा यत्र यभौ तो गुरू च"[२] अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः यगण, भगण, तगण तथा दो गुरु वर्ण हों, तो उसे 'रमा' छन्द कहा जा सकता है।

आचार्य मिश्र कवि हृदय भी हैं। उन्होंने स्वयं प्रणीत महाकाव्य, गीतिकाव्य आदि में नवीन छन्दों की उदभावना की है, जिनका नामकरण सहित लक्षण निरूपण अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ में किया है, यथा, 'काव्य किरणावली' के नवम किरण में 'कलावती पुत्रगीतावली' से –

S S S S I I S I I S

'ग्रामे ग्रामे नगरे नगरे,

कविकलाकारमणिभाविसरे,

गङ्गाया निर्मलपाथसि रे।

कविरचना हृदये प्रकाश्यताम्,

सूर्य इवाऽयं काव्यलोकः।

आचार्य ने इस छन्द को सममात्रिकपञ्चपद्य के अन्तर्गत 'रसभद्रा'[३] नाम से अभिहित किया है। लक्षण करते हुये वे कहते हैं कि 'जिसके प्रत्येक चरण में

---

[१] महाभारत अनुशासन पर्व, ७१/५५

[२] छन्दस्कलावती, २/२२

[३] वही मात्रावृत्त /१४

सोलह–सोलह मात्रायें, पादों की संख्या पाँच तथा प्रथम तीन पाद तुकान्त हुआ करते हैं, उसे 'रस भद्रा' छन्द कहा जा सकता है–

'भवन्ति यस्यां षोडश मात्रा,
भवति पञ्पादैस्तद्यात्रा,
त्रिभिः पदैर्या तुकान्तगात्रा,
भुवि पञ्चपदी बुधैर्ज्ञायताम्,
मया कथ्यते सा रसभद्रा।'

इसी प्रकार अपने ही काव्य ग्रन्थों में सम वर्णवृत्तों वाणी, विद्या, जया, श्रीयमुना, शीला, गचा, प्रतिभा, रमणी, रजनी, शशिकान्ता, योग, प्रभात, विभावती, तथा 'मति' नाक विषयवर्णवृत्त, एवं सममात्रिक छन्दों में नूतनधारा, रति, चन्द्र, गौरव, रीति, प्रणीति, छन्दोमान, छान्दसी सभा, वसन्तवृत्तम्, देवी, प्रेमकाम, प्रीति, सङ्गीता, रसभान्ता, सरसान्ता, सुप्रभा, पुष्पजाति, बाणजाति, भोगिनी, रसगर्भा, वनिता, खेल, नारिकेल, समृद्धगीति, अभिरामा, सङ्गीति, सुरसा, कविजाति, सौरभ, वृत्तक, पारिजात, कीर्तिकान्त, प्रफुल्लगीत, अर्द्धसममात्रिक छन्दों में आभा, शशिबाला, गिरा, गीतिदारिका, सौरन्यदा, पुच्छलिका, कविगान, सुकीर्ति, ज्ञानवती, रसवती, नूतनगीतम्, निर्मला, दिव्यकान्ता, विकास, धरणि, प्रगीतकम्, सुजाता, श्रुतकीर्ति, विषम मात्रिक छन्दों में तारा, माण्डवी, उर्मिला, सुभद्रा, अपाला, सीता, पादषट्कम् तथा प्रेमकनद, सुकान्ता, पदयात्रा नामक छन्दों का अविष्कार किया है।

यहाँ उल्लेख्य है कि पूर्ववर्ती छन्दःशास्त्रीय आचार्यों का अनुकरण करते हुए डॉ० मिश्र ने भी स्वोद्भावित छन्दों के नामकरण में सौन्दर्य को ही ध्यान में रखते हुये दिखायी देते हैं। उनके छन्दों के नामकरण में स्त्रीपरक ललित नामों के साथ–साथ प्राकृतिक तथा पौराणिक नाम प्राप्त होते हैं। पौराणिक नामों को छन्दों के नाम देकर

एक नवीन कार्य किया है। लेकिन यहाँ पर भी प्रश्न उठता है कि ये नामकरण किस आधार पर किये गये होंगे ? निश्चित रूप से मिश्र जी ने भी सौन्दर्य के साथ लक्षण में उसकी सङ्गति को ही नामकरण का आधार माना होगा।

आचार्य मिश्र ने पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित अन्य संस्कृत कवियों की कविताओं में प्रयुक्त छन्दों का लक्षण एवं नामकरण किया है, यथा– वेद कुमारी घई की कविता 'जीवनपथिकं प्रति–२' से एक उदाहरण–

'पथिक ! न पथो विचलितव्यम्।

कामं पथि पथि कण्टकगुल्मा एव विकीर्ण भूरिस्युः

पदे पदे तव गतिमभिरोद्धुं तुङ्गशिखरिणस्तिष्ठेयुः।

निर्जनभीषणकान्तारा अपि गह्वराणि वाऽऽगच्छेयुः।

विघ्नैरपि हसता लसता भोस्त्वयाविरतमभिगन्तव्यम्।।[1]

डॉ० मिश्र ने प्रकृत छन्द की सञ्ज्ञा 'पथिका' की। इसका लक्षण करते हुये वे कहते हैं कि जिस छन्द में पाँच पाद हों, प्रथम पाद में चौदह तथा अन्तिम चार पादों में तीस–तीस मात्रायें हों, जिनमें सोलह मात्राओं पर यति हो, प्रथम एवं अन्तिम पादान्त में मैत्री हो तथा मध्यम तीनों पादान्त तुकान्त हों, उसे 'पथिका' नाम दिया जा सकता है–

'प्रथमे चतुर्दशान्ते चतुष्षु त्रिंशत् षोडशे च विरतिः।

प्रथमान्तिमान्तमैत्री मध्ये तुकान्ता सा पथिका।।[2]

काठमाण्डु के कवि अभयसोमराज की कविता 'सैन्यगीतम्' से–

'वन्दना विधीयतां श्रद्धया समर्च्यताम्।

स्वराष्ट्रगीतिरागिणी दिवानिशं सुगीयताम्।।

---

[1] विश्व संस्कृतम्, पृष्ठ–२२, नवम्बर, १९९३, विश्वेश्वर वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर।

[2] संस्कृत छन्दों का उद्‌भव एवं विकास, पृ०–२०२

स्वमातृभूमिरच्चर्यतां स्वभाषितं निगद्यताम्।

स्वदेशवासिनो जनाः स्वसंस्कृतौ निधीयताम्।।[1]

प्रमाणिका मिश्रित यह छन्द डॉ० मिश्र के द्वारा 'चतुष्पदा' नाम से लक्षित किया गया, जिसका लक्षण है – 'जिस छन्द के प्रथम पाद में बाईस और अन्तिम तीन पादों में चौबीस मात्रायें हों, प्रत्येक पाद के मध्य में ग्यारह तथा बारह मात्राओं पर यति हो तथा पादान्त में मैत्री हो, तो उसे 'चतुष्पदा' कहते हैं–

'द्वाविंशतिस्तुपूर्वं चतुर्विंशतिश्च ततः प्रतिपादम्।

मध्ययतिरन्तमैत्री सा भवति चतुष्पदा गीतिः।।

लोकगीत एवं राग की ध्वनियों की अनुकृति पर संस्कृत–कविता में प्रयुक्त नवीन छन्दों का भी विद्वान् आचार्य के द्वारा नामकरण तथा लक्षण किया गया है। कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं–

'देख तेरे संसार की हालत, क्या हो गयी भगवान्।

कि कितना बदल गया इन्सान' इस लोकगीत की ध्वनि की अनुकृति पर रची गयी डॉ० ब्रजमोहन झा की 'विषमता–३' शीर्षक की कविता दर्शनीय है–

'शीततापसुनियन्त्रितभवने,

केऽपि शेरते विद्युत्पवने।

कर्मान्तेषु तपन्ति केऽपि धुरि,

यन्त्राणां ज्वलताम्।

कियत्कथयामाधिं ज्वलताम्।।[2]

---

[1] जयतु संस्कृतम्, पृ०–६, सं०– २०२१, काठमाण्डु।

[2] संस्कृत–प्रतिभा, पृ०–१६, अप्रैल, १९५९

इसे डॉ० मिश्र ने लोकगीत की ध्वनि पर आधारित 'विषमपथ' नाम से अपने छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ 'छन्दस्कलावती' में लक्षित किया है। उनके अनुसार 'विषमपथ' नामक मात्रिक छन्द वहाँ होतो है, जहाँ लोकध्वनि पर आधारित छन्द के प्रथम तीन पादों में सोलह–सोलह मात्रायें, चतुर्थ में दस तथा पञ्चम पाद में पन्द्रह मात्रायें हो तथा तृतीय पाद को छोड़कर पूर्व और अन्तिम दो पादों में तुकान्त हो–

'पादत्रये प्रतिपदं षोडश तुर्ये दशान्ते पञ्चदश।
त्यक्ततृतीयं तुकान्तं लोकध्वनिकृत विषमपथम्।।

जगदीश कृत 'प्रियदर्शनोत्सुका–२' शीर्षक की कविता का एक पद्य–

'कुङ्कुमरागविभूषितभाले,
चलदधरीकृतमुदितमराले।
प्रियसुखमनुभवमञ्जुले,
चल वामे चल चञ्चले।।'[1]

बहार राग की ध्वनि पर निबद्ध इस छन्द को डॉ० मिश्र ने 'प्रदीपगीत' नाम दिया है, जिसका लक्षण इस प्रकार करते हैं– जिस छन्द के पूर्वार्द्ध के प्रत्येक पाद में सोलह–सोलह मात्रायें, उत्तरार्द्ध के प्रत्येक पाद में तेरह–तेरह मात्रायें तथा बहार राग की ध्वनि पर तुकान्त रचना को 'प्रदीपगीत' छन्द कह सकते हैं–

'पूर्वार्द्धे प्रतिपादं षोडशोत्तरार्द्धे त्रयोदश कलाः।
बहाररागनिबद्धं तुकान्तं तत्प्रदीपगीतम्।।

इस प्रकार आधुनिक संस्कृत–कविता में प्रयुक्त थोड़े छन्दों का नामकरण एवं लक्षण प्रस्तुत कर आचार्य रामकिशोर मिश्र ने छन्दःशास्त्रीय विकास परम्परा को आगे बढ़ाने का सफल प्रयास किया है।

---

[1] संस्कृत–प्रतिभा, पृ०–१४ अप्रैल १६५६

निष्कर्ष :–

अब तक विवेचित तथा समीक्षित आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्यों में प्रयुक्त छन्द के वैविध्य की ओर दृष्टिपात करें, तो पाते हैं कि जिसका प्रारम्भ दामोदर मिश्र ने 'वाणीभूषण' में तथा भट्ट चन्द्रशेखर ने अपने छन्दोग्रन्थ 'वृत्तमौक्तिक' में हिन्दी तथा व्रज के छन्दों का संस्कृतीकरण कर किया था, उसको अतिक्रान्त कर आज छन्दस्कार भारत के प्रत्येक अंचल में गाये जाने वाले छन्दों को संस्कृत का रूप ही नहीं दिया, बल्कि नवनवोद्भूत छन्दों का भी अविष्कार किया। इतना ही नहीं वे वैदेशिक छन्दों को भी संस्कृत–छन्द को रूप देने में नहीं हिचकिचाये हैं। यह उनकी साम्राज्यवादिता का पोषक है, जो संस्कृत छन्दोविधान के क्षेत्र में तो नवीनता के साथ शुभ सङ्केत है ही तथा संस्कृत–वाङ्मय के दिन–प्रतिदिन विकसनशीलता का प्रमाण भी है। वस्तुतः आज के संस्कृत–कवि छन्दोविधान के क्षेत्र में नित्य नूतन प्रयोग कर संस्कृत–वाङ्मय के प्रचार–प्रसार में निष्ठा के साथ अपने आपको समर्पित किये हुये हैं। यह निश्चित रूप से संस्कृत भाषा के विकास में सहारनीय कार्य है।

उपसंहार

उपसंहार

सात अध्यायों में विभक्त प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में संस्कृत–छन्दोविधान के सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों पक्षों पर सम्यक् रूप से शोध–परक विवेचन किया गया। उपसंहारतः हम कह सकते हैं कि छन्द की यात्रा प्राग्वैदिक युग से लेकर अद्यतन युग तक निर्बाध रूप से उत्तरोत्तर विकसनशील है। वस्तुतः छन्द रस एवं प्राण है, जिसके बिना मानव–जीवन नीरस एवं निर्जीव है। रस इसलिये कि छन्द के माध्यम से सामान्य जनों को रसोद्बोध सरलता व सुगमता से हो जाता है। प्राण इसलिये कि मानव ने अपनी हृदगत भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए सर्वप्रथम छन्द का ही सहारा लिया होगा। सृष्टि की प्रथम रचना ऋग्वेद के छन्दोबद्ध होने के कारण इसकी पुष्टि होती है। अतः मानव ने जीवन को सरस एवं सजीव बनाने के लिये अपनी हृत्तन्त्री को झङ्कृत किया, परिणामस्वरूप उसके मुख से जो उद्गार निकले, वे पद्य रूप मे होने के साथ–साथ भावों को आच्छादित कर अभिव्यक्ति के माध्यम बने। इसीलिये उनका नामकरण छन्द के रूप में किया गया। वैदिक काल से पूर्व छन्द की जो यात्रा प्रारम्भ हुई थी वह नितान्त नियमविहीन तथा स्वच्छन्द थी। ऋग्वेद में उसका परिपक्व और व्यवस्थित रूप सामने आया। बाद में आवश्यकता अनुभूत होने पर छन्दःशास्त्रीय आचार्यों ने ऋग्वैदिक छन्द को सामने रखते हुए छन्दोग्रन्थ का प्रणयन किया होगा। अन्य शब्दों में, छन्दों का उदय प्राग्वैदिक युग में हो चुका था। वस्तुतः उस युग में लेख–सामग्री का अभाव होने के कारण ज्ञानराशि को संरक्षित करने में स्मरण शक्ति का बहुत बड़ा हाथ रहा होगा। एतदर्थ उस युग में छन्दों की उपयोगिता का अनुभव किया जाता रहा होगा, क्योंकि छन्दोबद्ध भाषा गद्य की अपेक्षा याद रखने में सुगम तथा सुखद होती है। इसमें निहित नैसर्गिक मधुरता के कारण भी छन्दों की ओर मानव–मन आकृष्ट हुआ होगा। इसके

अतिरिक्त छन्द नियमित शब्दों में अनियमित भावों के संयत वाहन हैं। अतः 'आवश्यकता अविष्कार की जननी है' इस आधार पर छन्दों की आवश्यकता ने इनका अविष्कार किया।

छन्दों का सैद्धान्तिक विवेचन ऋग्वैदिक छन्द से ही प्रारम्भ होता है, क्योंकि ऋग्वेद से पूर्व का वाङ्मय लिखित रूप में उपलब्ध नहीं होता। पादगत अक्षर संख्या के रूप में लक्षित या विवेचित वैदिक छन्दों के बाद लौकिक छन्दों का स्वरूप वैदिक छन्दों की आधारभूमि पर विकसित हुआ, जिसका विकसन शोकविक्लान्त करुणार्द्रचेता महर्षि वाल्मीकि की सहसा प्रस्फुटित वाणी से प्रारम्भ होता है। यद्यपि वैदिक छन्दों की तरह रामायण एवं महाभारत में भी स्वच्छन्दता की छाया दिखायी देती है, किन्तु अधिकांशतः छन्दःशास्त्रीय नियमों की परिधि में आते हैं। इन दोनों आर्ष महकाव्यों ने श्लोक अर्थात अनुष्टुप् छन्द को तो अमरता प्रदान की। रामायण एवं महाभारत के बाद छन्द पूर्णतः नियमाबद्ध हो गये। वैदिक छन्दों की पदगत अक्षर संख्या वार्णिक छन्दों के अन्तर्गत गणों में विभक्त हो गयी। लघु–गुरु के विशेष संयोजन रूप इन गणों के प्रस्तारादि गणितीय दृष्टि से समान अक्षर संख्या वाले अनेक छन्दोभेद–प्रभेद विकसित हुए। मा प्रमा प्रभृति वैदिक छन्दों के नाम लौकिक छन्द में विभिन्न अक्षर संख्या वाली उक्तादि छन्दोजातियों के बोधक के रूप में विवेचित हुए। वर्ण वृत्तों के नये नामकरण कहीं शृङ्गारिक वातावरण में उनके प्रयोग से प्रभावित शशिवदना, प्रियम्वदा आदि, कहीं शृङ्गारेतर प्रकृति–व्यापार के सूचक जलोद्धतगति आदि तथा कहीं छन्दोगत विशेष भावों के सूचक मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित आदि किये गये। उक्त दो कृतियों के पश्चात् तथा जयदेव के गीतगोविन्द से पूर्व तक सर्जनविधा में वार्णिक छन्दों की प्रधानता रही। जयदेव के पूर्व शङ्कराचार्य के स्तोत्र काव्यों में गीतिभाग में छन्द का कलेवर बदलता हुआ दिखायी देता है। वार्णिक छन्द की यात्रा को प्रतिरुद्ध किया गोवर्धनाचार्य ने, जिन्होंने वार्णिक छन्द को छोड़कर मात्रिक छन्द 'आर्या' में 'आर्यासप्तशती' की रचना कर छन्द की यात्रा का मार्ग बदलने

का सार्थक प्रयास किया, किन्तु यह भी परम्परागत मात्रिक छन्द ही था। छन्द–परिवर्तन ने अपनी स्वरतन्त्री की झङ्कारमयी ध्वनियों के अनुरूप छन्दों के विकास–क्रम में क्रान्तिकारी परिवर्तन करते हुये एक ऐसी गीत रचना प्रस्तुत की, जिसके गीत छन्द, ताल, लय तथा मात्राप्रधान हैं। जयदेव ने भी गीतिपक्ष को ही मात्रिक छन्दों में उपनिबद्ध किया। शेष भाग में वार्णिक छन्दों का ही प्रयोग किया है। बाद में गीतगोविन्द की अनुकृति पर ही 'गीतगिरीशम्', गीत–पीतवसनम्, गीतगौरीशम्, गीतगङ्गाधरम् आदि की रचना की गयी, जो पूर्णतः गीतगोविन्द की रचना शैली के अनुरूप है।

आधुनिक संस्कृत पद्य विधा में छन्दोविधान की दो धारायें दिखायी दे रही हैं– पहली धारा परम्परागत छन्दों की है, जिनमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य, सन्देशकाव्य आदि लिखे जा रहे हैं। इनमें छन्दों का परिवर्तित रूप ग्राह्य नहीं हुआ। दूसरी धारा आधुनिक संस्कृत–गीतिकाव्य या कविता में छन्दोविधान की है। यह छन्द के कलेवर को बदलने में पूर्णतः सफल रही है। आज की संस्कृत–कविता छन्द के विविध प्रयोगों की ओर तीव्रगति से आगे बढ़ रही है। इसने अन्यान्य भाषाओं के छन्दों तथा लोकगीतात्मक छन्दों को अपनाकर यह सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत भाषा सामान्य जनों की भावनाओं को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सफल है। मुझे तो आज के छन्दोविधान को देखकर ऐसा लगता है कि निश्चित रूप से संस्कृत भाषा जनभाषा रही होगी। यदि हम यह कहें कि जितने कवि उतने अलक्षित नवीन छन्द हैं, तो भी छन्द के वैविध्य का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही कवि अपनी कवितासङ्ग्रह में विविध छन्दों का प्रयोग करता हुआ दिखायी देता है। छन्दों का यह वैविध्य निश्चित रूप से संस्कृत वाङ्मय के विकास में सकारात्मक प्रयोग है। इसका प्रभाव अन्य भारतीय भाषाओं पर दिखायी देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ छन्द की मात्रा गायत्री प्रभृति छन्दों से प्रारम्भ हुई थी, आज वह अपना इतना अधिक विस्तार कर चुकी है कि उसका

विवेचन शोध–प्रबन्ध के एक अध्याय के एक भाग में सम्भव नही है। नवनवोद्भावित छन्दों का विकसन बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। अत एव इस विषय पर अलग से शोध–कार्य किये जाने की आवश्यकता है।

आधुनिक संस्कृत–कविता में छन्दोविधान के विविध नये–नये प्रयोग परिलक्षित हो रहे हैं, किन्तु अभी इन कविताओं में प्रयुक्त छन्दों के नामकरण तथा इनके लक्षण–निरूपण–ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हो सका है, जिसकी नितान्त आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। इस विषय में कतिपय अलक्षित नवीन छन्दों का नामकरण एवं लक्षण कर आचार्य रामकिशोर मिश्र ने लघु किन्तु सार्थक प्रयास किया है, जो भावी छन्दःशास्त्रीय आचार्यों के लिए एक प्रेरक का काम करते हुये दिखायी दे रहे हैं। संस्कृत–छन्दों–लक्षण–निरूपण करने वाले एक ऐसे बृहद् ग्रन्थ की आवश्यकता है, जिसमें आधुनिक संस्कृत–कविता में प्रयुक्त नवीन छन्दों के नामकरण एवं लक्षण के साथ–साथ वैदिक एवं परम्परागत लौकिक छन्दों का भी समावेश हो, जिससे छन्द के विषय में एक साथ दिग्दर्शन हो सके। लक्षण–निरूपण–ग्रन्थ के प्रणयन में निरन्तरता होनी आवश्यक है, क्योंकि आज की कविता में दिन–प्रतिदिन नवीन छन्दों का अवतरण हो रहा है। आशा है भविष्य में भी संस्कृत–काव्य–कानन नित्य–नूतन छन्दःपुष्पों से पुष्पित होता रहेगा।

अन्ततः अपने शोध–प्रबन्ध का समापन शौनक ऋषि की उस वाणी से कर रहा हूँ, जिसमें उन्होंने छन्दोज्ञान की फलश्रुति करते हुए कहा है कि 'जो व्यक्ति छन्दों की विशेषता को उसके विभिन्न रूपों के साथ जानता है, वह स्वर्ग तथा अमृतत्व को प्राप्त करता है–

'यच्छन्दसां वेद विशेषमेतं भूतानि च त्रैष्टुभजागतानि।[1]
सर्वाणि रूपाणि च भक्तितो यः स्वर्गं जयत्येभिरथाऽमृतत्वम्।।

---

[1] ऋक्प्राति शाख्य – १८/३४

सन्दर्भ
ग्रंथ
सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

छन्दोग्रन्थ

१. छन्दःशास्त्र : पिङ्गलकृत, टीका०– भट्ट हलायुध तथा मधुसूदन विद्यावाचस्पति, परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या–६, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली प्रथम संस्करण –१६८१

२. छन्दोमञ्जरी : गङ्गादासकृत, टीका–जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता
अष्टम संस्करण–१६१५ तथा टीका–परमेश्वरदीन पाण्डेय, कृष्णदत्त अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण–१६८७

३. छन्दःप्रभाकर : लेखक जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' विलासपुर १६३६

४. छन्दःकौस्तुभ : राधादामोदरकृत, अनुवादिका एवं सम्पादिका–डॉ०(श्रीमती) कमलेश पारीक, वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन, प्रथम संस्करण–१६६३

५. वृत्तरत्नाकर : केदारभट्ट, अनुवादक एवं टीका० श्रीधरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास
तृतीय संस्करण–१६७२

६. वृत्तरत्नाकर : टीका० आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, सप्तम संस्करण–१६६८

७. श्रुतबोध : कालिदासकृत, टीका० कनकलाल शर्मा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
द्वितीय संस्करण–वि० सं०२०४०

८. सुवृत्ततिलक : क्षेमेन्द्रकृत, टीका० पं० ब्रजमोहन झा,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
प्रथम संस्करण– वि०सं० २०२५

९. वाग्वल्लभः : दुःखभञ्जन कवि, टीका० पं० श्री देवी प्रसादकवि चक्रवर्ती,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३३

१०. छन्दोऽनुशासन : जयकीर्तिकृत, जयदामन् में प्रकाशित, बम्बई, १९४९ ई०

११. छन्दोऽनुशासन : हेमचन्द्रकृत, जयदामन् में प्रकाशित, बम्बई, १९४९ ई०

१२. रत्नमञ्जूषा : भाष्यसहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४ ई०

१३. जयदामन् : हरिदास वेलणकर, विल्सन कालेज, बम्बई, १९४९ ई०

१४. असीम प्रतिभा : लेखक– डॉ० रामकिशोर मिश्र, बागपत, मेरठ
प्रथम संस्करण –१९९८

१५. वृत्तमञ्जरी : वसन्त त्र्यम्बक शेवडे, व्याख्याकार–डॉ० ब्रह्मनन्द त्रिपाठी,
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी, प्रथम संस्करण –१९८९

१६. ऋक्प्रातिशाख्य : शौनककृत, डॉ० वीरेन्द्र वर्मा, दिल्ली ,१९८९

१७. ऋग्वेद : दयानन्द संस्कृत संस्थान, दिल्ली

१८. छान्दोग्योपनिषद् : सम्पादक– प्रो० जे० एल० शास्त्री, दिल्ली
द्वितीय संस्करण–१९८०

१९. मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,
प्रथम संस्करण– १९६४

२०. छन्दस्कलावती : रचयिता एवं प्रकाशक–डॉ० रामकिशोर मिश्र, बागपत, मेरठ
प्रथम संस्करण –१९९१

२१. वैदिकच्छन्दोमीमांसा : पं० युधिष्ठिर मीमांसक, अमृतसर वि० सं० १६७२

२२. वाणीभूषण : दामोदर मिश्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६२५ ई०

२३. वृत्तमौक्तिक : भट्ट चन्द्रशेखर, सम्पा० विनयसागर, जोधपुर, १६६५ ई०

पुराणग्रन्थ

२४. अग्निपुराण (उत्तरभाग) : अनु० तारीणीश झा एवं डॉ० घनश्याम त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रथम संस्करण–१६८६

२५. श्रीमद्भागवत महापुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर।

२६. गरुड पुराण : सम्पा० डॉ० रामशङ्कर भट्टाचार्य, बम्बई विसं० १६६३

२७. नारद पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई वि०सं० १६८०

२८. विष्णुधर्मोत्तर पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई वि० सं० १६६६

संस्कृत-काव्य-ग्रन्थ

२६. वाल्मीकिरामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर।

३०. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर।

३१. कविरहस्य : हलायुध, गोपाल नारायण, बम्बई द्वितीय संस्करण – १८६६

३२. शिशुपालवध : माघकृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई संस्करण – १८८८

३३. रघुवंश : कालिदासकृत, व्याख्याकार— श्री हरगोविन्द मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, प्रथम संस्करण—वि०सं० २०५१

३४. कुमारसम्भव : कालिदासकृत, व्या०— श्री प्रद्युम्न पाण्डेय, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी

३५. किरातार्जुनीय : भारवि, घण्टापथ व्याख्या सहित, वाराणसी १९५२

३६. जानकीहरण : कुमारदास, मित्रप्रकाशन, इलाहाबाद, ११९६७

३७. नैषधीयचरितम् : श्री हर्ष, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५२

३८. भट्टिकाव्य : भट्टि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९७२

३९. मन्दारमरन्दचम्पू : काव्यमाला—५२, बम्बई, १८९५ ई०

४०. नेमिनिर्वाणम् : वाग्भट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८९६

४१. आर्यासप्तशती : गोवर्धनाचार्य, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी १९६५

संस्कृत-नाट्य-ग्रन्थ

४२. उत्तररामचरित : भवभूति, टीका०—आचार्य त्रिनाथ शर्मा एवं डॉ० कपिलदेव गिरि चौखम्भा संस्कृत संस्थान, प्रथम संस्करण—वि०सं० २०५१

४३. वेणीसंहार : भट्टनारायण, सम्पा० एवं व्या०— डॉ० गंगासागर राय चौखम्भा संस्कृत संस्थान, द्वितीय संस्करण—वि०सं० २०५४

४४. रत्नावली नाटिका : श्री हर्ष देव, व्या० डॉ० शिवराज शास्त्री साहित्य भण्डार, मेरठ

४५. अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदासकृत, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७७

४६. मुद्राराक्षस : विशाखदत्तकृत, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, सं० १९९०

४७. मृच्छकटिक : शूद्रक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

संस्कृत-गीतिकाव्य

४८. गीतगोविन्द : जयदेवकृत, व्याख्याकार–केदारनाथ शर्मा,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज,
अष्टम संस्करण – वि०सं० २०५४

४६. गीत कन्दलिका : डॉ० हरिदत्त शर्मा,
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, १६८३

५०. निर्झरिणी : डॉ० नलिनी शुक्ला,
शक्तियोगाश्रम, कानपुर, प्रं०सं०–१६८६

५१. गीतमन्दाकिनी : इच्छाराम द्विवेदी, दिल्ली, १६६२

५२. अग्निशिखा : पुष्पा दीक्षित,
ऋतम्भरा प्रकाशन, जबलपुर, १६८४

५३. मन्दाकिनी : श्रीभाष्यम् विजयसारथि,
संस्कृत भारती प्रकाशन, वारंगल १६८०

५४. अनुभूतिः : डॉ० प्रवेश सक्सेना,
परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, १६६६

५५. वाग्वधूटी : अभिराज राजेन्द्र मिश्र,
अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, १६७८

५६. तदेव गगनं सैव धरा : श्री निवास रथ,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, १६६५

५७. पण्डितराज जगन्नाथ ग्रन्थावली : व्या० मधुसूदन शास्त्री,
कृष्णदास अकादमी, वाराणसी,१६६२

५८. पिपासा : डॉ० जगन्नाथ पाठक
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
प्रथम संस्करण, १९८७

५९. प्रतानिनी : पं० बच्चू लाल अवस्थी
वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण, १९९९

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

६०. काव्यप्रकाश : मम्मटाचार्य, सं०एवं व्याख्याकार डॉ० श्रीनिवास शास्त्री
साहित्य भण्डार, मेरठ १९७९

६१. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, चौखम्बा, वाराणसी, १९६४

६२. काव्यदर्शन : दण्डी, चौखम्बा, वाराणसी, १९५८

६३. काव्यालङ्कार : भामह, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १९५६

६४. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजदेव, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४

इतिहास-ग्रन्थ

६५. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास : लेखक– आचार्य बलदेव उपाध्याय
शारदा संस्थान, वाराणसी १९८३

६६. व्रज के धर्मसम्प्रदायों का इतिहास : लेखक– प्रभुदयाल मीतल
प्रथम संस्करण १९६४, दिल्ली

६७. वैदिक साहित्य का इतिहास : श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज

६८. वैदिक साहित्य और संस्कृति : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी–१६७३

६६. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद् इतिहास (आधुनिक खण्ड) : उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, २००० ई०

कोश-ग्रन्थ

७०. अमरकोश : अमरसिंह, चौखम्बा, बनारस वि०सं०–१६६४

७१. मेदिनीकोश : मेदिनिकर, चौखम्बा, वाराणसी, १६६८

७२. संस्कृत–हिन्दी–कोश : वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

अन्य ग्रन्थ एवं पत्रिकाएं

७३. स्तोत्ररत्नावली : गीता प्रेस, गोरखपुर।

७४. श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर।

७५. सङ्गीत रत्नाकर : आनन्दाश्रम, पूना, १६४२, अड्यार संस्करण मद्रास, १६४४

७६. संगमनी : (संस्कृत त्रैमासिकी) शिशिरांक, संवत् – २०२२ प्रयाग

७७. पातञ्जल महाभाष्य : काशी, वि० सं० १६४६

७८. निरुक्त : यास्क, चौखम्बा, वाराणसी, १६६६

७६. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत, सम्पादक–मधुसूदन शास्त्री काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि०सं० २०३२

८०. वृहत्संहिता : वराहमिहिर, व्याख्याकार पं० श्री अच्युतानन्द झा,

चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६३

८१. The Gitagovind : (Song of the Dark Land)

Editor & Tr. Barbara Stoler Miller

Pub. Motilal Banarasidas, 1977

८२. A History of Sanskrit literature : A .B. Keith

८३. Sanskrit Poetry : (From Vidyakara's Treasury) Tr. By H.H. Ingalls,

Sanskrit Poetry and Sanskrit Poetics

Harward University Press, Cambridge, 1968

८४. Sanskrit Prosody in its evolution : A.D.Mukherjee , Calcutta

८५. 'The laws and Practice of Sanskrit Drama' :

(A thesis A.U.) Surendra nath Shastri, 1961

८६. 'History of Sanskrit Literature' : M. Krishnamachariar

Third Edtion 1974